विषय-सूची

मुख्य मुख्य घटनाओं की तिथियाँ

१८४२ (१८ जनवरी) जन्म ।

१८५३ माता का देहांत ।

१८५४ पहला विवाह (सखूबाई से) ।

१८५६ बंबई पढ़ने गए ।

१८५९ मैट्रीक्यूलेशन परीक्षा पास की ।

१८६१ लिटिल गो परीक्षा पास की ।

१८६२ साधारण बी० ए० और आनर्स परीक्षाएँ पास कीं ।

,, इंदुप्रकाश के संपादक हुए ।

१८६४ एम० ए० की डिग्री मिली ।

१८६५ बंबई-विश्वविद्यालय के फेलो हुए ।

१८६६ एल-एल० बी० परीक्षा पास की ।

,, मराठी ट्रांसलेटर का पद मिला ।

१८६७ कोल्हापुर के न्यायाधीश हुए ।

१८६८ एल्फिंस्टन कालेज के प्रोफेसर हुए ।

१८७१ एडवोकेट की परीक्षा पास की ।

,, बंबई के तीसरे पुलिस मैजिस्ट्रेट हुए ।

,, (२८ जुलाई) बंबई के चौथे जज स्माल-काज-कोर्ट हुए

,, (१६ नवंबर) पूना के कायममुकाम सब-जज हुए ।

१८७३ सखूबाई का देहांत ।

,, दूसरा विवाह (रमाबाई से) ।

,, सब-जजी पर मुस्तकिल हुए ।

१८७७ पिता का देहांत ।

१८७८ पूना से नासिक को बदली ।

१८७६ धुले को बदली ।

१८८० डिस्ट्रिक्ट जज के पद पर नियुक्ति ।

१८८१ बंबई के प्रेसीडेंसी मैजिस्ट्रेट हुए ।

" फिर पूना के सदराला हुए ।

" पूना और सतारा के असिस्टेंट स्पेशल जज हुए ।

१८८४ पूना के खफीफा जज हुए ।

१८८५ स्पेशल जज हुए ।

" डेकनकालेज में न्याय के अध्यापक (जजी के साथ साथ) हुए ।

" बंबई की लेजिस्लेटिव कौंसिल की मेंबरी (जजी के साथ साथ) मिली ।

१८८६ फिनांस-कमेटी के मेंबर हुए ।

१८८८ सी० आई० ई० की उपाधि मिली ।

" फिर स्पेशल जजी पर नियुक्ति ।

१८९० फिर लेजिस्लेटिव कौंसिल की मेंबरी मिली ।

१८९३ तीसरी बेर लेजिस्लेटिव कौंसिल की मेंबरी मिली ।

" (२३ नवंबर) हाईकोर्ट की जजी मिली ।

१९०० (४ जून) वसीयतनामा लिखा ।

१९०१ (८ जनवरी) अस्वस्थ होने के कारण ६ मास की छुट्टी ली ।

" (१६ जनवरी) स्वर्गवास ।

जस्टिस रानडे

महादेव गोविंद रानडे

(१) बाल्यावस्था

'होनहार बिरवान के होत चीकने पात ।'

रानडे का जन्म नासिक जिले के निफाड स्थान में माघ शुक्ल ६ शाके १७६३ अर्थात् १८ जनवरी १८४२ को मंगलवार संध्या समय हुआ था। इनका नाम महादेव रखा गया। इनके पिता गोविंदराव भाऊ कोल्हापुर रियासत में कई उच्च पदों पर रहकर पेंशन पाते थे। जिस समय महादेव का जन्म हुआ, इनके पिता निफाड में 'कारकुन' थे। गोविंदराव का देहांत सन् १८७७ में हुआ।

गोविंदराव के पिता अर्थात् महादेव के दादा अमृतराव तात्या संस्कृत के बड़े पंडित थे। वे भागवत बाँचते और ज्योतिष भी जानते थे। महादेव की जन्मपत्री तात्याजी ने स्वयं बनाई थी। तात्याजी ने पुरुषसूक्त की टीका की थी जिसको पीछे से रानडे ने छपवाया था।

अमृतराव तात्या के पिता भास्करराव उपनाम अप्पा जी भी अपने समय में बड़े प्रसिद्ध थे। पीछे जब वे पल्टन के अफसर हुए तब उन्होंने मुसलमानों से एक किला जीतकर अपने राजा को दे दिया। इसके अनंतर साँगली की ओर से राजदूत नियुक्त होकर वे अँगरेजी सरकार में रहने लगे। राजा ने इनको जागीरें दीं। ये ६५ वर्ष की अवस्था में अंत समय तक ईश्वर की उपासना करते हुए परलोक को सिधारे।

अप्पा जी की माता कृष्णाबाई के विषय में यह प्रसिद्ध है कि उनकी संतान बचती नहीं थी। इस पर उन्होंने बारह वर्ष तक अनेक व्रत किए। वे प्रतिदिन पीपल और गाय की परिक्रमा करतीं और गोमूत्र में गूँधे हुए आटे की रोटी खातीं।

रानडे के पूर्वजों का जो संक्षिप्त वृत्तांत ऊपर लिखा गया है उससे स्पष्ट है कि जिस परिवार में वे उत्पन्न हुए थे उसमें कई पुरुष पराक्रमी, धर्मनिष्ठ और शास्त्रवेत्ता थे।

बाल्यावस्था में रानडे बड़े शरमाऊ और बोदे मालूम होते थे। वे अपने पिता और दादा से दूर रहते थे। उन्होंने अपने दादा अमृतराव से सबसे पहले २२ वर्ष की अवस्था में, एम० ए० पास करने के उपरांत, वार्तालाप किया था। औरों से भी वे बहुत कम बातचीत करते थे। एक बेर इनकी माता गोपिकाबाई बैलगाड़ी पर इनको कोल्हापुर ले जा रही थीं। रात्रि का समय था। अनुमान दो बजा था। मार्ग ऊँचा नीचा था। गाड़ी को धक्का लगने से ये नीचे गिर पड़े। सब

लोग सोए हुए थे, गाड़ी आगे की ओर चली जा रही थी। किसी को इस घटना की सूचना भी नहीं हुई। रानडे की अवस्था उस समय ढाई वर्ष की थी। भाग्यवश उनके चाचा, जो घोड़े पर सवार थे, किसी कारण पिछड़ गए थे। जब रानडे ने उनके घोड़े की टाप सुनी तब उन्होंने अपने चाचा को बुलाया। उनके चाचा ने उनको उठाकर पहचाना और अपने साथ ले जाकर उनकी माता के सुपुर्द किया।

बचपन में रानडे के परिवार के साथ आबा साहब कीर्तने का भी परिवार रहता था। कीर्तने कुल के बालक बड़े होशियार थे। वे बातचीत में बड़े चतुर थे। स्कूल में जब वे परीक्षा पास करते तब घर आकर बड़े प्रसन्न होकर सबसे कहते थे, परंतु रानडे ने कभी अपनी परीक्षा का हाल घरवालों को नहीं सुनाया। एक दिन घरवालों ने उनको उलहना दिया कि तुम अपने पास होने का हाल किसी को नहीं कहते। उन्होंने उत्तर दिया कि इसमें कहने की कौन बात है, जब अभ्यास करते हैं तब पास ही होंगे। इसमें विशेषता ही क्या है?

इनकी माता बड़ी चिंता में रहती थीं। वे कहा करती थीं कि इसके लिये १०) महीना भी कमाना कठिन है।

इनका मनोरंजन यह था कि जो कुछ ये पढ़कर आते थे उसको घर की दीवार पर या जमीन में धूल पर लिखा करते थे।

रानडे को जो बात एक बार समझा दी जाती थी उसी के अनुसार वे सब काम करते थे। जो कार्य वे एक दिन करते थे

प्राय: प्रतिदिन उसके करने की चेष्टा करते थे। एक ही रास्ते से वे रोज जाते थे। पाठशाला से आने पर उनको जो भोजन मिलता था उसमें थोड़ा सा घी रहता था। एक दिन घर में घी नहीं था। इन्होंने उसके लिये जिद की। इस पर इनकी माँ ने घी के बर्त्तन में पानी डालकर और उसको गरम करके इनके भोजन में डाल दिया। इन्होंने प्रसन्नतापूर्वक भोजन कर लिया। इनकी बहिन ने हँसकर कहा कि महादेव को घी के बदले पानी दे दिया, पर इन्होंने इसकी कोई पर्वाह नहीं की।

ये स्नान करते समय पहला लोटा सिर पर डालते ही पुरुषसूक्त का पाठ करते थे। कोई बीच में बोलता तो ये बुरा मानते थे। एक दिन ये संध्या कर रहे थे कि इनके चाचा ने बीच में रोककर इनसे संध्या के संबंध में कुछ प्रश्न पूछे। प्रश्नों का ठीक उत्तर देकर आपने अपने चाचा से पूछा कि बतलाइए मैंने संध्या कहाँ से छोड़ी थी। उन्होंने कहा कि तुम फिर से संध्या आरंभ कर दो, पर रानडे ने एक न सुनी। अंत में उनके चाचा ने अटकलपच्चू बतला दिया कि यहाँ से तुमने छोड़ी थी। उन्होंने वहीं से फिर संध्या करनी आरंभ कर दी।

इनकी माता त्योहारों पर इनको आभूषण पहनाती थीं, पर ये गहना पहनना अच्छा नहीं समझते थे। ये गोप और कड़ों को तो कपड़ों से ढक लेते थे और अँगूठी के नगीने को मुट्ठी बंद करके छिपा लेते थे।

एक दिन इनकी माँ ने इनको बरफी दी। उस समय मजदूरनी का लड़का सामने खड़ा था, इसलिये उन्होंने इनके दूसरे हाथ में आधी बरफी देकर कहा कि एक तू खा ले और दूसरी उस लड़के को दे दे। इन्होंने बड़ा टुकड़ा उस लड़के को दे दिया और छोटा आप खा लिया। माँ ने कहा—"अरे, उस लड़के को तो छोटा टुकड़ा देना था।" महादेव ने कहा—"तुमने तो इस हाथ का टुकड़ा उसे देने के लिये कहा था, इसलिये मैंने वही दे दिया।" कोई दूसरा बालक होता तो बड़ी बरफी आप खा जाता, चाहे उसकी माँ की आज्ञा इसके विपरीत ही होती। पर रानडे को तो दूसरों ही के लिये जीना था।

सन् १८५३ में इनकी माता का देहांत हुआ। उस समय इनकी अवस्था ११ वर्ष की थी।

---

(२) शिक्षा

कोल्हापुर में उस समय पांडोबा तात्या दिवेकर एक प्रसिद्ध अध्यापक थे। रानडे ने मराठी की प्रारम्भिक शिक्षा इन्हीं से पाई। उन्हीं दिनों कोल्हापुर रियासत के रेजिडेंट के हेड क्लार्क नाना मोराजी थे जो आगे चलकर बंबई के प्रेसीडेंसी मैजिस्ट्रेट हुए और जिनको रावबहादुर की उपाधि मिली। इन्होंने कोल्हापुर में एक अँगरेजी स्कूल खोला था जिसके

प्रथमाध्यापक कृष्णराव चापाजी थे जिन्होंने इँगलैंड में प्रसिद्ध विद्वान् प्रोफेसर हेनरी ग्रीन से शिक्षा पाई थी। मराठी पढ़कर रानडे इसी स्कूल में दाखिल हुए। यहाँ अँगरेजी के बहुत थोड़े क्लास थे। इसलिये रानडे और उनके साथी कर्तने चाहते थे कि बंबई जाकर पढ़ें, परंतु रानडे की अपने पिता से कहने की हिम्मत नहीं पड़ती थी। अंत में इन्होंने कर्तने के पिता से कहा और कर्तने ने इनके पिता से। रानडे के पिता कहते थे कि मेरा लड़का बड़ा बोदा है, बंबई में अकेला नहीं रह सकेगा। परंतु लड़कों ने बार बार कहना शुरू किया और बंबई जाकर पढ़ने के लिये वे आग्रह करने लगे। अंत में लड़कों की बात मानी गई और वे सब सन् १८५६ में बंबई के एल्फिस्टन इंसटीट्यूशन के उस विभाग में दाखिल हुए जिसको अब 'एल्फिन्स्टन हाई स्कूल' कहते हैं। उस समय रानडे की अवस्था १४ वर्ष की थी। स्कूल में भर्ती हुए अभी तीन ही महीने हुए थे कि इनके अध्यापक कैखुसरो हरमुसजी अल्पवाला ने, जो कई वर्षों के उपरांत सूरत में जज और खाँ बहादुर हुए, इनको फर्स्ट क्लास में चढ़ा दिया। सन् १८५८ में ये एल्फिस्टन कालेज में पढ़ने लगे और इनको १०) फिर १५) और २०) मासिक छात्रवृत्ति मिलने लगी। बंबई विश्व-विद्यालय की पहली मैट्रीक्यूलेशन परीक्षा सन् १८५९ में हुई। उस परीक्षा में केवल २१ विद्यार्थी पास हुए थे। उनमें रानडे भी थे। उस समय कुछ विद्यार्थी 'दक्षिणा फेलो' चुने जाया

करते थे जो अपना पढ़ना जारी रखते थे और जिनको नीचे की श्रेणी में पढ़ाना भी पड़ता था। फेलो लोगों को कुछ मासिक वेतन मिलता था।

पेशवा सरकार ने संस्कृत के पंडितों और अन्य विद्वानों के सहायतार्थ कुछ धन अलग कर दिया था। उसी धन से अँगरेजी राज्य में फेलो लोगों की सहायता होने लगी। रानडे भी मैट्रीक्यूलेशन परीक्षा पास करने के उपरांत जूनियर दक्षिणा फेलो चुने गए और इनको ६०) मासिक मिलने लगा। तीन वर्ष पीछे ये सीनियर दक्षिणा फेलो १२०) मासिक पर नियुक्त किए गए और तीन वर्ष तक इस पद पर रहे। सन् १८६१ में इन्होंने लिटूल-गो की परीक्षा और १८६२ में बी० ए० की परीक्षा पास की। बी० ए० आनर्स की परीक्षा भी इन्होंने उसी वर्ष इतिहास और अर्थशास्त्र में दी और बड़ी योग्यता से प्रश्नों का उत्तर दिया। इसको पास करने के लिये इनको एक स्वर्ण-पदक और २००) की पुस्तकें पारितोषिक में मिलीं। इसके अतिरिक्त कालेज के प्रिंसिपल, अध्यापकों और विद्यार्थियों ने मिलकर इनको ३००) की एक सोने की घड़ी दी। उस समय आनर्स की परीक्षा में केवल पाठ्य पुस्तकों ही से प्रश्न नहीं पूछे जाते थे, बल्कि इस प्रकार के प्रश्न भी आते थे कि जिनसे विद्यार्थी की बुद्धि और गवेषणा की जाँच हो। तीन घंटे के अंदर विद्यार्थियों को प्रश्नों के उत्तर देने पड़ते थे और चार दिन तक परीक्षा होती थी। पढ़ी हुई साधारण बातों का ही तीन

घंटे में उत्तर देना कठिन होता है, पर जब उनके साथ नवीन बातें पूछी जायँ तब तो उन सबका उत्तर देना साधारण बात नहीं है। अब तक सब परीक्षाएँ इन्होंने प्रथम श्रेणी में पास की थीं, पर आनर्स परीक्षा दूसरी श्रेणी में पास की।

सन् १८६४ में रानडे को एम० ए० की डिग्री बिना परीक्षा दिए ही मिल गई क्योंकि उन दिनों यह नियम था कि जो आनर्स में बी० ए० पास करता था वह अपने मैट्रीक्यूलेशन पास करने की तिथि से ५ वर्ष के उपरांत एम० ए० हो जाता था।

रानडे की आँखें बाल्यावस्था से ही कमजोर थीं। अधिक पढ़ने से और भी कमजोर हो गईं। बी० ए० की परीक्षा देने के उपरांत आँखों का रोग बढ़ गया। ६ महीने तक इनको हरी पट्टी बाँधनी पड़ी। तिस पर भी इन्होंने पढ़ना पढ़ाना नहीं छोड़ा।

सन् १८६६ में इन्होंने एल-एल० बी० (वकालत) की परीक्षा दी और उसको भी प्रथम श्रेणी में पास किया। नियमानुसार इन्होंने आनर्स-इन-ला की परीक्षा भी उसी साल दे दी और उसको भी प्रथम श्रेणी में पास किया।

बी० ए० की परीक्षा में अँगरेजी और इतिहास के जो उत्तर इन्होंने दिए थे उनको उस समय के डाइरेक्टर मिस्टर हावर्ड, जो परीक्षक भी थे, अपने साथ इँगलैंड ले गए थे, इसलिये कि वे वहाँ की अपनी परिचित विद्वन्मंडली को दिखलावें कि एक हिंदू-विद्यार्थी में किस उच्च श्रेणी की विद्वत्ता है।

एल्फिस्टन कालेज की, जिसमें वे पढ़ते थे, उस समय की प्राय: प्रतिवर्ष की रिपोर्ट में इनके परिश्रम, विद्यानुराग और गवेषणाशक्ति की प्रशंसा की गई है। सन् १८६२-६३ की रिपोर्ट में उस समय के प्रिंसिपल सर ए० ग्रैंड ने इनकी प्रशंसा करते हुए लिखा था—"दक्षिणा फेलो लोगों में विद्याभिरुचि, सत्यभाषण और आत्मगौरव के गुण हैं। वे बड़े बड़े पद पाने की योग्यता रखते हैं। जहाँ तक मेरा अनुभव है, इससे अधिक कोई बात असत्य नहीं हो सकती कि भारतवासी अँगरेजी शिक्षा पाकर बिगड़ जाते हैं। मैंने अपने कालेज में सदैव यह देखा है कि ज्यों ज्यों विद्यार्थियों में शिक्षा की वृद्धि होती जाती है त्यों त्यों वे अधिक विश्वासपात्र और प्रतिष्ठित होते जाते हैं।"

---

(३) मित्र-मंडली

पाठशालाओं के विद्यार्थियों में जो घनिष्ठ मित्रता हो जाती है वह बहुधा जीवन पर्यंत रहती है। हर एक विद्यार्थी अपनी रुचि, प्रकृति और अपने स्वभाव के अनुसार मित्र बना लेता है। रानडे से भिन्न प्रकृति के लोगों से भी सहज में मैत्री हो जाती थी और उनके लिये वे आत्मसमर्पण तक करने को सर्वदा तत्पर रहते थे।

काल पाकर उनके कतिपय मित्र उच्च पदाधिकार अथवा विद्या अथवा देशहितैषिता के कारण विख्यात हुए। जब वे

कोल्हापुर के अँगरेजी स्कूल में पढ़ते थे तब महाराज होल्कर के भूतपूर्व दीवान रायबहादुर विनायक जनार्दन कीर्त्तने, पूना हाई स्कूल के हेड मास्टर, स्वर्गवासी महादेव मोरेश्वर कुंटे बी० ए० और उसी स्कूल के दूसरे हेड मास्टर विट्ठल नारायण पाठक एम० ए० उनके साथ पढ़ते थे। इसके अनंतर बंबई में आकर मैट्रीक्यूलेशन परीक्षा पास करने के उपरांत जब वे जूनियर दक्षिणा फेलो हुए तब उनके मित्र रामकृष्ण गोपाल भांडारकर और जवारीलाल उमियाशंकर याज्ञिक भी इसी पद पर नियुक्त किए गए। जब उन्होंने एल-एल० बी० की परीक्षा दी तब उनके साथी बाल मंगेश वागले थे।

इनके अतिरिक्त रावबहादुर शंकर पांडुरंग पंडित उनके परम मित्रों में से थे। एक बेर बंबई सरकार रावबहादुर पंडित से अप्रसन्न हो गई थी। श्रीमती रमाबाई रानडे ने उसका कारण यह लिखा है कि जिस दिन पूना में स्त्रियों का हाई स्कूल खुला था, उस दिन एक विशेष उत्सव किया गया था जिसमें उस समय के गवर्नर, महाराजा बड़ोदा, ली वारनर तथा अन्य अधिकारी उपस्थित थे। संयोग से बड़ोदाधीश समय से कुछ पहले ही उठ गए। रावबहादुर पंडित इस स्कूल के प्रबंधकर्त्ता थे। समय अधिक लग जाने के कारण उन्होंने प्रोग्राम से लड़कियों के कुछ गीत कम कर दिए। इस पर ली वारनर साहब असंतुष्ट हो गए और उन्होंने इसका कारण राजभक्ति का अभाव बतलाया। तीन चार दिन के अंदर

उन्होंने सरकारी आज्ञा भिजवा दी कि रावबहादुर पंडित प्रबंधकर्ता के पद से हटा दिए जायँ। श्रीयुत पंडित को इस बात से बड़ा दुःख हुआ। उन्हीं दिनों रानडे सरकारी काम से कई मास के लिये शिमला जा रहे थे। अपने मित्र का दुःख उनको असह्य मालूम हुआ। आग्रहपूर्वक वे उनको साथ ले गए और अनेक प्रकार से उनको प्रसन्न करने की चेष्टा करते रहे। कभी उनसे दिन भर के काम का हिसाब लेते, कभी उनसे हास्य-विनोद किया करते। शिमला में एक मेम से कहकर उन्होंने उनको फ्रेंच सिखलाने का प्रबंध कर दिया। जब इस प्रकार उनकी उदासी कम हो गई तब तत्कालीन वाइसराय लार्ड डफरिन से उनकी दो तीन बार भेंट करा दी।

एक बेर यही शंकर पांडुरंग पंडित पोरबंदर में बहुत बीमार हुए। डाक्टरों ने इनको बंबई में रहने की सलाह दी। उस समय रानडे बंबई में थे। शंकर पांडुरंग को बंबई में कोई उपयुक्त बँगला रहने के लिये नहीं मिलता था। रानडे ने अपने यहाँ उनको परिवार सहित रहने का स्थान दिया। वे रात दिन उनकी चिंता में रहते थे। कभी कभी रात में कई बेर उनको देखने जाते और रात भर जागते रहते। इसी बीमारी में रानडे के गृह पर ही उनकी मृत्यु हो गई जिस पर रानडे को उतना ही दुःख हुआ जितना किसी को अपने सगे भाई अथवा बेटे के मरने पर होता है।

डाक्टर भांडारकर से उनकी मित्रता बड़ी घनिष्ठ थी। सन् १८८१ में जब वे बंबई के प्रेसीडेंसी मैजिस्ट्रेट हुए तब डाक्टर भांडारकर बंबई में संस्कृत के अध्यापक थे। रानडे उनके बँगले के पास ही ठहरे थे। दोनों परिवार के लोग प्रतिदिन मिलते और एक दूसरे से अत्यंत प्रेम का बर्ताव करते।

भांडारकर अपने ढंग के एक ही पुरुष थे। संस्कृत के अद्वितीय पंडित होने पर भी वे समाज-संशोधन और धार्मिक सुधार के बड़े पक्षपाती थे। इन्होंने अनेक प्राचीन संस्कृत ग्रंथों का अनुसंधान किया था; दक्षिण देश का एक प्राचीन इतिहास शिलालेखों, ताम्रपत्रों और प्राचीन सिक्कों के आधार पर लिखा था और अनेक पाठ्य पुस्तकें और अन्य ग्रंथ लिखकर देश की सेवा की थी। सन् १८९४ में जब डाक्टर भांडारकर बंबई विश्वविद्यालय के वाइस-चांसलर थे, इन्होंने कन्वोकेशन के व्याख्यान में नवशिक्षित लोगों की अधिक मृत्यु का कारण बालविवाह बतलाया था। उस समय उनमें और रानडे में अत्यंत प्रेमपूर्वक लेखबद्ध वाद विवाद हुआ था। रानडे का पक्ष यह था कि अधिक मृत्यु का केवल बालविवाह ही एक मात्र कारण नहीं हो सकता। उन्होंने अपनी सम्मति दी थी कि भारतवासियों की आर्थिक दुर्दशा भी इसका एक महान् कारण है। यह शास्त्रार्थ पढ़ने योग्य था।

वामन आबाजी मोड़क भी रानडे के परम मित्रों में से थे। इन्होंने उनके साथ ही बी० ए० पास किया था और वे कई

स्कूलों में हेड मास्टर रहने के अनंतर बंबई एल्फिंस्टन हाई स्कूल के प्रिंसिपल नियुक्त हुए। इनसे पहले इस पद पर अँगरेज हुआ करते थे। इन्होंने इस कार्य को ऐसी योग्यता से किया कि उनको सी० आई० ई० की उपाधि दी गई। समाज-संशोधन और धार्मिक सुधार के कामों में वे रानडे और भांडारकर के साथी थे। सन् १८९३ में पूना प्रार्थना-समाज के उत्सव पर वे व्याख्यान दे रहे थे कि जब उनको लकवा मार गया और इसी रोग में वे सन् १८९७ में मर गए। उस समय उनकी अवस्था ६१ वर्ष की थी।

बाल मंगेश वागले भी उनके परम मित्रों में से थे। इन्होंने इनके साथ ही एम० ए०, एल-एल० बी० की परीक्षा पास की थी। वागले ने वकालत आरंभ की, पर बहुत न चली। कुछ दिन तक वे स्माल काज कोर्ट के जज रहे। जिस समय दादाभाई नौरोजी भूतपूर्व महाराज बड़ोदा के दीवान बनाए गए थे उस समय वागले महाशय वहाँ की हाई-कोर्ट के चीफ जस्टिस हुए, परंतु दादाभाई के साथ ही उन्होंने भी बड़ोदा की नौकरी छोड़ दी और फिर वकालत आरंभ की। ये भी समाज-संशोधक और प्रार्थना-समाज के उन्नति-दायक लोगों में से थे।

सर फिरोजशाह मेहता रानडे के समकालीन थे। सन् १८६४ में जब फिरोजशाह शिक्षा प्राप्त करने इँगलैंड गए, उनके कालेज के विद्यार्थियों ने इनकी बिदाई पर अभिनंदनपत्र दिया

था; उस पर अन्य विद्यार्थियों के साथ रानडे और बाल मंगेश वागले के हस्ताक्षर भी थे।

सन् १८६६ में मेहता ने एक व्याख्यान में सरकार की उस नीति का खंडन किया जिसके अनुसार प्राइवेट स्कूलों और कालेजों को सरकारी धन से सहायता दी जाती है। उसी स्थान में रानडे ने इस नीति की प्रशंसा की। मेहता का पक्ष यह था कि सरकार समझती है मानों भारत के धनाढ्य लोगों में विद्याप्रचार की भूख बढ़ रही है और वे धन देने को तैयार बैठे हैं। रानडे ने कहा, जितना सर्वसाधारण से मिल सकेगा उतने ही अंश में विद्योन्नति होगी इसलिये इस प्रणाली को चलाकर सरकार ने उपकार ही किया है। सन् १८८६ में मेहता ने बंबई में ग्रैज्युएट्स एसोसिएशन स्थापित की और उसके सबसे प्रथम सभापति रानडे चुने गए। सन् १८९३ में रानडे और मेहता दोनों एक ही समय में प्रांतिक कौंसिल के सभासद थे और जनता का पक्ष लेते थे। दोनों बंबई विश्वविद्यालय की समितियों में भी साथ ही थे। केवल दादाभाई और रानडे ही ऐसे दो महापुरुष थे जिनके प्रति मेहता श्रद्धा का भाव रखते थे।

इन महाशयों के अतिरिक्त रानडे के अनेक अन्य मित्र भी थे। इनसे हर प्रकार के लोगों से मित्रता हो जाती थी। मत-मतांतर और जाति-भेद के कारण इनके मैत्री-भाव में कभी अंतर नहीं पड़ता था। भारतवर्ष का कोई प्रांत ऐसा नहीं था जहाँ इनके मित्र न थे। ये लोगों से पत्र-व्यवहार बहुत रखते

थे। जहाँ कहीं किसी कमेटी इत्यादि में कोई उत्साहपूर्ण नवयुवक इनको मिल जाता जो अच्छी वक्तृता देता अथवा जो सच्चरित्र और विचारशील प्रतीत होता, ये तुरंत उससे जान पहिचान कर लेते और पत्र-व्यवहार द्वारा अथवा अवसर पाकर मिलते रहने से उससे मित्रता बढ़ा लेते थे।

---

(४) विवाह और गार्हस्थ्य जीवन

रानडे का पहला विवाह सन् १८५४ ई० में, जब उनकी बारह वर्ष की अवस्था थी, इचलकरंजी के राजा की साली सखूबाई से हुआ था। रानडे के पिता गोविंदराव बालविवाह को बुरा नहीं समझते थे, परंतु वे स्त्री-शिक्षा के पक्ष में थे। रानडे की माता के मरने पर गोविंदराव ने दूसरा विवाह किया था। इसलिये उन्होंने अपनी स्त्री, रानडे की विधवा बहिन और सखूबाई तीनों को मराठी भाषा पढ़ाने का प्रबंध एक साथ ही कर दिया।

सखूबाई बड़ी पतिव्रता थी। उसको अपने पति की सेवा का बड़ा ध्यान रहता था। उसका स्वभाव बड़ा सरल था। सब लोगों को वह प्रसन्न रखने की चेष्टा करती थी, परंतु दुर्भाग्य से ३ अक्तूबर सन् १८७३ में पूना में क्षयी रोग से उसका देहांत हो गया। उस समय रानडे पूना में सब जज थे। सखूबाई की मृत्यु से उनको बड़ा दुःख हुआ। उसकी बीमारी की अवस्था में उन्होंने रातों जागकर उसकी सेवा-शुश्रूषा की थी।

उसकी मृत्यु के अनंतर आप रात को तुकाराम के अभंग पढ़कर अपना समय काटते और कभी कभी पढ़ते हुए प्रेम में गद्गद हो जाते। प्रायः एक वर्ष तक सखूबाई का जिक्र आते ही उनकी आँखों में जल आ जाता। इसी समय उन्होंने एक मित्र को, जिनके घर में किसी की मृत्यु हो गई थी, सहानुभूति प्रकट करते हुए यह लिखा था—"मुझे भी कठिन दुःख हुआ है। कभी कभी ऐसी दुर्घटनाएँ बुद्धि को ऐसा चक्कर में डाल देती हैं कि परम भक्त के चित्त में भी पापमय निराशा और धर्मद्रोही विचार उत्पन्न होने लगते हैं। तुम्हारे अंदर धर्म का अंकुर दृढ़तापूर्वक जमा हुआ है, इसलिये इस क्षणभंगुर दुःख से तुम्हारा विश्वास नहीं डगमगाएगा। ऐसे भाव जब चित्त में उठें तब किसी मित्र को उपदेश देना उचित नहीं। परंतु दुःख से पीड़ित होकर हृदय को इस ज्ञान की प्राप्ति से संतोष होता है कि यह संसार फुलवारी नहीं है।"

उनका दुःख इस बात से और भी बढ़ गया कि पत्नी के मरने के एक ही महीने के अंदर उनके पिता ने उनके दूसरे विवाह की बातचीत शुरू कर दी। पिता ने समझा कि रानडे सुधारक हैं, इसलिये संभव है कि किसी विधवा से विवाह कर लें। इधर चारों ओर उनके मित्रों को इस बात की खबर लग गई। उनके पास पत्र पर पत्र आने लगे। उनके पिता को इस बात का खटका पहले ही से था, इसलिये उन्होंने चोरी से इनकी डाक खोलकर पढ़नी शुरू की। मित्रों के पत्रों

में लिखा रहता था कि परीक्षा का समय है, पिताजी से स्पष्ट कह देना चाहिए कि मैं पुनर्विवाह करूँगा, इत्यादि। ऐसे पत्र प्राय: बंबई से आते थे। इसलिये उनके पिता बंबई के पत्र अपने पास रख लेते और बाकी डाक उनके पास भेज देते।

संयोग से उसी समय उनके पिता के एक मित्र अपनी कन्या रमाबाई के लिये वर ढूँढ़ने पूना आए। इन दोनों में विवाह-संबंधी बातें हुईं। गोविंदराव ने अपनी ओर से एक विद्वान् कर्मनिष्ठ और शुद्धाचारी सज्जन को लड़की के देखने के लिये भेजा। उन्होंने लड़की को पसंद कर लिया और दूसरे दिन रमाबाई को लेकर उसके पिता पूना पहुँचे। रानडे को इन बातों की कुछ भी खबर नहीं थी। जब गुप्त रीति से उनके पिता ने विवाह का सब प्रबंध कर लिया तब वे रानडे के पास गए और इस प्रकार बातचीत हुई—

"तुम्हारे लिये आवश्यक है कि तुम अब दूसरा विवाह कर लो।"

"मैं अब विवाह नहीं करूँगा।

"क्यों ?"

"मैं छोटा नहीं हूँ, मेरी अवस्था ३२ वर्ष की हो चली।"

"परंतु सारी अवस्था नियमपूर्वक बिताना कठिन है।"

"कुछ भी कठिन नहीं। बहिन दुर्गा मुझसे भी छोटी है। वह २२ वर्ष की ही अवस्था में विधवा हो गई थी।

आपको उसकी कुछ भी चिंता नहीं, परंतु मेरे विवाह के लिये आप आग्रह करते हैं। आपको लड़की से कम स्नेह नहीं है।"

"मुझे डर है कि कहीं बुढ़ापे में तुम्हारे कारण मेरी दुर्दशा न हो।"

"मेरे कारण आपको कष्ट नहीं पहुँच सकता।"

"कहीं तुम किसी विधवा से विवाह न कर लो।"

"यदि इससे आपको संतोष हो जाय तो मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं विधवा से विवाह नहीं करूँगा।"

"परंतु बिना ब्याहे रहना ठीक नहीं।"

"यदि आप दुर्गा बहिन का व्रतपूर्वक रहना उचित समझते हैं तो विश्वास रखिए, मैं भी व्रतपूर्वक रहूँगा।"

"तुमने अब तक मेरी बात नहीं टाली।"

"मैं आपकी आज्ञा सदा मानने के लिये तैयार हूँ, परंतु आपसे प्रार्थना है कि आप मेरा कथन भी सुनें।"

इसी प्रकार दोनों में बहुत देर तक बातचीत हुई। रानडे विवाह करने से बराबर इनकार करते गए, पर उनके पिता ने एक न सुनी और उनके पास से उठ गए। उसी दिन उन्होंने स्वयं जाकर लड़की को देखा और एकादशी का मुहूर्त्त निश्चय कर लिया। सायंकाल वे लड़की के पिता को साथ लेकर रानडे के पास गए। रानडे को उस समय तक कुछ

भी भेद मालूम नहीं था। गोविंदराव ने उनका परिचय देकर सब कथा कह सुनाई। रानडे ने उनसे पूछा—"आपने क्या समझकर अपनी कन्या मुझे देने का विचार किया है? मैं सुधारक दल में समझा जाता हूँ। मैं विधवा-विवाह का पक्षपाती हूँ। मुझे विलायत भी जाना है और वहाँ से आकर मैं प्रायश्चित्त भी नहीं करूँगा। इसके अतिरिक्त देखने में तो मेरा शरीर हृष्ट पुष्ट मालूम होता है पर मेरी आँखें और कान खराब हैं।"

कन्या के पिता ने कहा—भाऊ साहब (गोविंदराव) ने ये सब बातें मुझसे पहले ही से कह दी हैं, तिस पर भी मैंने कन्या आप ही को देने की प्रतिज्ञा की है।

तीनों आदमियों में बहुत देर तक बातें हुईं, पर उनके पिता ने एक न सुनी। विवश होकर रानडे ने कहा कि "आप और सोचिए, मैं सब बातें आप ही पर छोड़ देता हूँ। मुझे छः महीना और समय दीजिए।" इस पर वे दोनों उठकर चले गए। थोड़ी देर पीछे गोविंदराव फिर आए। रानडे ने उनको अत्यंत दुखी देखकर कहा—"मैं तो उनसे कह चुका हूँ कि अभी छः महीना विवाह नहीं करूँगा और सब बातें आप पर छोड़ दी हैं।" उनके पिता ने इसका कुछ उत्तर नहीं दिया और वे घंटों सोच विचार में डूबे रहे। रानडे का हृदय बड़ा कोमल था। वे किसी को दुखी नहीं देख सकते थे। पिता की यह अवस्था देखकर वे भी व्याकुल

थे। उन्होंने अपने पिता से कहा—"आप मेरी एक भी बात चलने नहीं देते।" इस पर उनके पिता ने उत्तर दिया—"मैंने तुम्हारी कही हुई बातों पर खूब विचार किया। मुझे तुम पर विश्वास भी है। पर मेरी इस समय वृद्धावस्था है। मेरा अंत समय अब आ रहा है। तुम नवयुवक हो, अभी नया जोश है। गत १५ दिन के अंदर तुम्हारे बंबई के मित्रों ने जो पत्र तुमको भेजे हैं उनको मैंने अपने पास रख लिया है। उनको पढ़कर मैं तुम्हारी बातें मानने के लिये तैयार नहीं। मुझे तनिक भी संदेह नहीं है कि तुम्हारे मित्र बराबर तुम्हारा कान भरते रहेंगे, जो बातें वे कहेंगे वे तुम्हारे भी विचारों और वय के अनुकूल होंगी। तुम स्वतंत्र भी हो, इसलिये नए विचार जल्दी जोर पकड़ लेंगे। मैं छः महीने की अवधि भी नहीं दे सकता। इसमें हमारे पारिवारिक सुख में अंतर पड़ेगा। तुम समझदार हो। मैं इतना कह देना आवश्यक समझता हूँ कि यदि विवाह न हुआ तो लड़की को कैसे लौटा सकूँगा? इसमें मेरा तो अपमान होगा ही, पर मुझे ख्याल लड़की के पिता का है। मेरा तुम्हारा संबंध तो अब टूट ही जायगा। मैं यहाँ से अब चला जाऊँगा। जो ईश्वर की इच्छा होगी वही होगा!" जब ये बातें हो रही थीं तब दुर्गा उपस्थित थी।

रमाबाई के घराने के लोग वीर और धार्मिक थे। इनकी माता बड़ी सुशिक्षिता थीं। उनको चिकित्सा-शास्त्र का

अच्छा ज्ञान था। बड़ी बड़ी दूर से उनके पास रोगी आते थे और वे बड़े प्रेम से उनको ओषधि दिया करती थीं। संध्या समय वे अपने सब बच्चों को जमा करके पुराण की कथा सुनाया करतीं। रमाबाई लिखती हैं—"नई बातें जो अब मैं पढ़ती और सुनती हूँ प्राय: भूल जाया करती हूँ। परंतु उन शिक्षाओं को, जो मेरी माता मुझे बाल्यावस्था में देती थीं, अब तक मैं नहीं भूली।"

गोविंदराव ने रानडे से विवाह करने के लिये एक धार्मिक कुल की कन्या को चुना। दिसंबर १८७३ में रानडे का रमाबाई से विवाह हो गया। विवाह वैदिक रीति से किया गया। पीछे से जो कुछ लौकिक रीति रस्में हुईं, उनमें वे शरीक नहीं हुए। विवाह के उपरांत पति-पत्नी साथ भोजन करते हैं। रानडे ने यह भी नहीं किया। वे विवाह के स्थान से पैदल घर आकर अपना कमरा बंद करके बैठ गए। विवाहवाले दिन पिता के कहने पर भी उन्होंने कचहरी से छुट्टी नहीं ली। उनके पिता समझते थे कि सुधारक लोग उनको कचहरी में बहका देंगे। कई दिनों तक वे किसी से नहीं बोले। उनको देखने ही से मालूम होता था कि उनको असह्य मानसिक वेदना हो रही है। एक तो सखूबाई की मृत्यु का दु:ख, दूसरे अनिच्छा होने पर भी दूसरा विवाह, तीसरे विवाह भी उनके सिद्धांतों के विरुद्ध! रमाबाई की आयु उस समय केवल ११ वर्ष की थी।

इस विवाह के संबंध में अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार लोग भिन्न भिन्न सम्मति देंगे, पर सब लोग इस बात पर सह-मत होंगे कि उन्होंने केवल पितृभक्ति के कारण यह विवाह किया था। वे नहीं चाहते थे कि उनके पिता के पारिवारिक सुख में उनके कारण किसी प्रकार का विघ्न पड़े। इसी लिये उन्होंने अपने मित्रों को रुष्ट किया और अपना उपहास कराया। इस संबंध में श्रीमती रमाबाई रानडे लिखती हैं—"मुझे तो यह प्रतीत होता है कि उनकी सारी जीवनी में सच्चे स्वार्थ-त्याग और मन की बड़ाई का जो कुछ अंश है उसमें अत्यंत उदात्त और महत्त्वपूर्ण यही है। इस संबंध में कोई कितनी ही निंदा करे, मुझे तो इस कार्य के लिये उनका आदर ही होता है। सच्ची भक्ति से यदि उनका चरित्र पढ़ा जाय तो सबका यही विचार होगा।" रमाबाई के इस कथन का बहुत से लोग समर्थन नहीं करेंगे।

विवाह के अवसर पर रमाबाई के पिता ने अपने कुटुंब की स्त्रियों को नहीं बुलवाया क्योंकि रानडे ने अपने पिता से वचन ले लिया था कि विवाह में केवल वैदिक विधि और हव-नादि होंगे। स्त्रियों के आने से इसमें अवश्य विघ्न पड़ता।

रमाबाई के पिता उसको ससुराल छोड़कर अपने घर चले गए। उसी दिन रानडे कचहरी से आकर रमाबाई को ऊपर ले गए और उन्होंने उससे पूछा—"तुम्हारे पिता गए?" उसने कहा—"हाँ।" फिर उससे अपना नाम पूछा। उसने आज्ञा

श्रीमती रमाबाई रानडे

पाकर उनका पूरा नाम, जो सुना था, कह सुनाया। इसके उपरांत उसके घर के संबंध में कई प्रश्न करके पूछा—"तुम पढ़ना लिखना जानती हो कि नहीं?" वह बेचारी कुछ पढ़ी लिखी नहीं थी। उसने उत्तर में स्पष्ट यही कह दिया। बस, उसी समय रानडे ने उसको स्लेट पेंसिल देकर पढ़ाना आरंभ कर दिया। १५ दिन में वह बारहखड़ी आदि सीखकर मराठी की पहली पुस्तक पढ़ने लग गई। जब उसको पढ़ने लिखने में स्वयं आनंद मिलने लगा तब पढ़ाने के लिये 'ट्रेनिंग कालेज' की एक अध्यापिका रखी गई जिसकी अवस्था अभी बहुत छोटी थी। शिक्षिका और शिष्या दोनों ही के छोटे होने के कारण आपस में खूब बातें होती थीं और इसी में एक घंटा बीत जाता। कभी कभी यदि दो एक पृष्ठ पढ़े भी गए तो अध्यापिका के चले जाने पर फिर पुस्तक नहीं खुलती थी। इस बीच में रानडे तीन महीने के लिये देशाटन को चले गए। बस, पीछे सब पढ़ना लिखना प्रायः बंद सा हो गया। जब उन्होंने प्रवास से लौटकर देखा कि रमाबाई ने विद्याभ्यास में कुछ विशेष उन्नति नहीं की तब अध्यापिका से शिकायत की। अध्यापिका ने कहा—"यह देहातिन है, इसको पढ़ना लिखना नहीं आयगा। आप पढ़ाकर देख लीजिए। मैं तो इसके साथ बहुत परिश्रम कर चुकी।"

इस पर रमाबाई की आँखों में आँसू भर आए और वह पढ़ने में ध्यान भी देने लग गई। अब उसको सगुणाबाई

नाम की उसी कालेज की दूसरी अध्यापिका पढ़ाने लगी। वह शांत और सुशील थी। दो वर्ष में पाँचवें दर्जे की पढ़ाई समाप्त हो गई।

सबके सामने अपनी स्त्री को पढ़ाना प्रायः बुरा समझा जाता है, परंतु रानडे इसकी परवाह नहीं करते थे। वे सर्वदा दो घंटा रमाबाई को पढ़ाते थे। विद्याभ्यास में रमाबाई को बड़ी बड़ी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं। रानडे की सौतेली माँ और बहिन को गोविंदराव ने कुछ थोड़ा पढ़ाने का प्रबंध कर दिया था। वे साधारणतः पढ़ लिख सकती थीं। पर रमाबाई को पढ़ते देख वे बहुत बुरा मानती थीं। उस समय घर में रिश्ते की कुछ और स्त्रियाँ भी थीं। वे सब मिलकर रमाबाई से हँसी ठट्टा करतीं। वह कभी कभी पद्य की पुस्तकें उच्च स्वर से पढ़ती तो सब चिढ़ाने लगतीं—"सुनो, तुम इतनी बातें सुनती हो, फिर भी पढ़ना नहीं छोड़तीं। तुमको अपना अधिकांश समय स्त्रियों ही में बिताना चाहिए। यदि वह तुम्हें पढ़ने के लिये कहें भी तो उस पर ध्यान न दो। आप ही कहना छोड़ देंगे।"

रमाबाई के दो छोटे देवर थे। वे अँगरेजी पढ़ते थे। उन्हें अँगरेजी पढ़ते देख रमाबाई ने एक दिन रानडे से कहा—"मैं भी अँगरेजी पढ़ लेती तो अच्छा होता।" रानडे को बड़ा आश्चर्य और आनंद हुआ। उन्होंने कहा—"हमारी भी यही इच्छा है। मराठी का अभ्यास समाप्त होने पर अँगरेजी आरंभ होगी।"

कुछ महीने बाद मराठी शिक्षा समाप्त हुई और अँगरेजी आरंभ हुई। इसके पढ़ने में समय अधिक लगता था। इससे दूसरी स्त्रियाँ और भी बुरा मानने लगीं। एक दिन रमाबाई के हाथ में एक अँगरेजी अखबार का टुकड़ा देखकर ननद दुर्गा ने बिगड़कर कहा—"तुम्हारा आफिस ऊपर है, वहाँ चाहे तुम पढ़ो चाहे नाचो, यहाँ इसकी जरूरत नहीं। हमारी पहली भाभी ने भी लिखना पढ़ना सीखा था, पर हम लोगों के सामने कभी उसने किताब छुई तक नहीं। भैया ने उसे भी अँगरेजी पढ़ाने के लिये कितना जोर दिया था परंतु उसने कभी उस ओर ध्यान भी नहीं दिया। यदि भैया उससे दस बात कहते तो वह एक करती। उसमें ये गुण नहीं थे।" इस प्रकार बात बात पर वे उसे झिड़क देतीं पर वह शांत होकर सुन लेती। उसने पढ़ना नहीं छोड़ा।

कुछ दिनों के बाद रानडे नासिक बदल गए। वहाँ दूसरी स्त्रियाँ साथ नहीं गईं। इसलिये पढ़ाई का प्रबंध बहुत ठीक हो गया। सबेरे घंटे दो घंटे पढ़ाई होती, संध्या समय एक घंटा मराठी समाचार-पत्र पढ़े जाते और भोजनोपरांत रानडे रमाबाई से रात के दस बजे तक मराठी पुस्तकें पढ़वाते। प्रातःकाल ४ बजे उठकर वे रमाबाई को संस्कृत-श्लोक याद कराते और उनके अर्थ स्वयं समझाते और प्रतिदिन रमाबाई से श्लोक पढ़वाकर सुनते।

जब अँगरेजी की दूसरी पुस्तक समाप्त हो गई, रानडे ने इसौप्स फेबल्स और अंजील पढ़ाना आरंभ किया और घर का

सब खर्च और हिसाब किताब रमाबाई के जिम्मे कर दिया। धीरे धीरे देशहित के कामों में भी रमाबाई का प्रवेश होने लगा। रानडे और वहाँ के ज्वाइंट जज रावबहादुर गोपालराव हरी देशमुख ने, जो सनातन धर्मावलंबी थे, मिलकर यह विचार किया कि नगर की स्त्रियों को एक स्थान पर जमा करके कभी कभी सीता, सावित्री आदि प्राचीन साध्वी स्त्रियों के जीवन-चरित्र सुनाकर उनका ध्यान शिक्षा की ओर आकर्षित करना चाहिए। इस काम में रमाबाई और श्रीमती देशमुख से सहायता ली जाती थी। एक बेर लड़कियों की पाठशाला का उत्सव किया गया। उसमें प्रतिष्ठित घरों की स्त्रियों को निमंत्रण देने के लिये देशमुख की लड़कियाँ और रमाबाई लोगों के घर पर गईं। उत्सव की समाप्ति पर सभापति और उपस्थित स्त्रियों को धन्यवाद देने के लिये रानडे ने रमाबाई को एक लेख दे दिया जिसको उन्होंने वहाँ पढ़ा। इस प्रकार रमाबाई में देशहित के कार्यों के लिये अनुराग उत्पन्न होने लगा।

जब कुछ महीने के लिये रानडे बंबई के प्रेसीडेंसी मैजिस्ट्रेट हुए तब रमाबाई प्रति शनिवार को आर्य महिला-समाज में जातीं और कभी कभी निबंध लिखकर पढ़ा करतीं अथवा व्याख्यान देतीं। रानडे जब फिर पूना में बदल गए तब वहाँ उन्होंने स्त्रियों की एक सभा स्थापित की। उसमें खगोल, भूगोल, इत्यादि विज्ञान-संबंधी पाठ दिए जाते जिनको स्त्रियाँ दूसरे अधिवेशन में लिखकर लातीं और उनके लेख शुद्ध किए

जाते। परंतु पूना आकर घरवालों का विरोध फिर आरंभ हुआ। इस समय रमाबाई की प्रबल इच्छा संस्कृत पढ़ने की थी, पर घरवालों के विरोध के कारण वह पूरी न हो सकी। कुछ महीनों के लिये जब रानडे को दौरे का काम करना पड़ा, तब उन्होंने जनाना मिशन की एक मेम को रमाबाई को अँगरेजी पढ़ाने के लिये नियुक्त किया। इस पर घर की स्त्रियाँ बड़ी अप्रसन्न हुईं और उन्होंने रमाबाई से बोलना छोड़ दिया। इस समय रानडे भी दौरे पर रहते थे, इस कारण रमाबाई को बड़ा दुःख होता था। एक दिन घर की एक स्त्री ने कहा—"मेम से छूकर तुम नहाती नहीं, केवल कपड़े बदल लेती हो, यह बात ठीक नहीं है। यदि तुम्हें नहाना न हो तो तुम ऊपर बैठी रहा करो, वहीं तुम्हारा भोजन पहुँच जायगा। अब तो तुम्हें भी मेम बनना है। घर के काम-धंधे के लिये तो हम लोग मजदूरनियाँ हैं ही।" इस पर रमाबाई ने मेम से पढ़ने के पीछे भी नहाना शुरू कर दिया। जाड़े के दिन थे। तीसरे पहर नहाने के कारण ज्वर आने लगा। घर के लोगों ने रानडे को पत्र लिखा। जब वे दौरे से लौटे, उन्होंने नहाना मना कर दिया और कहा—"घरवालों की अप्रसन्नता का ख्याल मत करो। चाहे जो हो, पढ़ना न छोड़ो।" घरवालों को भी उन्होंने समझा दिया। दूसरे दिन दोपहर को जब मेम आई तब ननद ने कहला भेजा—"अब नहाकर हमारे घर बीमारी न

लाओ। हम लोग अपने कामों के लिये बहुत हैं, जो मन में आवे करो।"

उन्हीं दिनों पंडिता रमाबाई नाम की एक संस्कृतज्ञ विदुषी स्त्री पूना में आई। वे पुराण का पाठ बड़ी विद्वत्ता से करती थीं। उन्हें श्रीमद्भागवत कंठस्थ था। व्याख्यान भी उनका बड़ा ललित होता था। इसी बीच में रानडे दौरे से आए और उन्होंने अपने घर पर पंडिताजी से पुराण की कथा कहलवाई। इसके अनंतर और लोगों ने भी एक एक सप्ताह तक अपने अपने घर कथा बैठवाई। श्रीमती रानडे प्रतिदिन कथा सुनने जातीं, इसलिये उनसे और पंडिताजी से बड़ा स्नेह हो गया। पर इनके घर की स्त्रियाँ पंडिताजी की बड़ी निंदा करतीं और उन पर अनेक तरह के दोषारोपण करतीं। एक दिन बात ही बात में पता लगा कि पंडिताजी को अँगरेजी पढ़ने का शौक है और वे कुछ अँगरेजी पढ़ी भी हैं। जब उनको यह मालूम हुआ कि रानडे के घर मेम पढ़ाने आती है तब वे भी अँगरेजी पढ़ने रोज आने लगीं। अब क्या था। घरवालों का विरोध और भी बढ़ गया। इधर पंडिताजी ने 'आर्य-महिला-समाज' स्थापित किया जिसमें प्रति शनिवार को उनके व्याख्यान होते। इस समाज में नए पुराने सब ख्याल के लोग अपने घर की स्त्रियों और बच्चों को भेजने लगे, पर रानडे की बहिन और सौतेली माँ विरोध करने से बाज न आतीं। रानडे का नियम था

कि वे घरवालों से कोई ऐसी बात नहीं कहते थे जिससे यह मालूम हो कि वे अपना बड़प्पन जतलाते हैं। इसलिये वे घर की स्त्रियों की बात में कुछ नहीं बोलते थे। केवल रमाबाई का उत्साह भंग नहीं होने देते थे। एक दिन दुर्गा ने कहा--"भैया (रानडे) का सभा के लिये इतना आग्रह नहीं है। यह स्वयं अपने मन से जाती है। मुझे और पहली भाभी को भी तो भैया ही ने लिखना पढ़ना सिखाया था, परंतु हमसे कभी उन्होंने ऐसी बातें करने के लिये नहीं कहा। यदि वह जागीरदार की लड़की नहीं थी तो किसी भिखमंगे की भी नहीं थी। वह सुशीला थी, यह तो एकदम पगली है। इसे जो कुछ कहो चुपचाप सुन लेती है, पर करती है अपने मन की ही।' इन दिनों रानडे दौरे पर रहते थे।

बरसात शुरू होते ही दौरा बंद हो गया। अब प्रति शनिवार को रमाबाई रानडे के साथ सभा में जातीं। जाते समय अपनी सास और ननद से पूछ भी लेतीं, पर सभा से आने पर वे उनकी दुर्गति करतीं। दो तीन दिन तक बातचीत भी न करतीं। प्रति सप्ताह यही अवस्था होती, यद्यपि उस समय मेम भी छुड़ा दी गई थी।

इन्हीं दिनों पूना में यह विचार हुआ कि स्त्रियों के लिये एक हाईस्कूल खोला जाय। इसके लिये एक बड़ी सभा की गई जिसमें बहुत से स्त्री पुरुष आए और उस समय के

गवर्नर सर जेम्स फर्ग्युसन भी पधारे। उस सभा के लिये एक अभिनंदनपत्र अँगरेजी में रानडे ने लिख दिया और रमाबाई से उसको पढ़ने के लिये कहा। रमाबाई ने उसको सभा में पढ़ा। जब इसकी खबर घर पहुँची तब स्त्रियों में बड़ा आंदोलन मचा। रानडे की सौतेली माँ ने, जिनको वे निज माता के समान आदर की दृष्टि से देखते थे, रमाबाई को सुनाकर बड़े कठोर शब्दों में व्यंग्य बातें कहनी आरंभ कीं। रात को जब रानडे घर आए तब उनकी माँ ने कहा—"पहले की स्त्रियाँ बोलना तो दूर रहा, मरदों के सामने खड़ी भी न होती थीं। पुराण-वाचन के सिवाय स्त्री-पुरुष को एक साथ बैठे नहीं देखा। अब की औरतें कुर्सी लगाकर मरदों के सामने बैठती हैं। उन्हीं की तरह पढ़ती हैं, लिखती हैं, सब कुछ करती हैं। हजारों आदमियों के बीच में अँगरेजी पढ़ते इसे लाज न आई। पढ़ाने लिखाने से औरतों की आँख का पानी उतर जाता है। वेंकटेश-स्तोत्र, शिवलीलामृत आदि पढ़ लिया, बहुत हुआ। अभी इसे अँगरेजी पढ़ाना छोड़ दो—"इत्यादि। इन बातों को सुनकर रानडे हँसते जाते और किसी बात का जवाब न देते। परंतु रमाबाई को बड़ा दुःख हुआ। उसने उस दिन भोजन नहीं किया और रोने में समय बिताया। ऐसी बातें सुनते सुनते उसको बरसों हो गए, परंतु रानडे से इन बातों को कभी वह न कहती। हाँ, रानडे उसको सुख देखकर समझ जाते और धैर्य देते थे।

रमाबाई जब अपने पिता से अलग हुई थीं तब उन्होंने इनसे कहा था कि "अपना स्वभाव ऐसा रखना कि जो तुम्हारी कुलीनता को शोभा दे और घर में चाहे जो हो, कभी स्वामी के सामने किसी की चुगली न खाना। इन दो बातों का ध्यान रखोगी तो तुम्हें किसी बात की कमी न होगी। तुम भाग्यवती हो। यदि तुम सहनशील बनोगी तो तुम्हारा उचित आदर होगा और तभी हमारे घर में तुम्हारा जन्म लेना सार्थक होगा।"—इत्यादि शिक्षा की बातें रमाबाई के पिता ने पहले ही से कह दी थीं। इधर रानडे भी इनको धैर्य की शिक्षा देते थे। जिस दिन रमाबाई ने गवर्नर के सामने एड्रेस पढ़ा था और घर आकर बातें सुनी थीं उसी दिन रात को हँसते हुए उन्होंने कहा था—"क्यों, आज तो खूब बहार हुई। परंतु अब तुम्हें और भी नम्र और सहनशील होना चाहिए। माताजी ने जो कुछ कहा, वह अपने समय की समझ के अनुसार। उसमें उनका कुछ दोष नहीं है, परंतु तुम्हें उत्तर देकर उनका मन न दुखाना चाहिए। मैं जानता हूँ कि ऐसी बातें चुपचाप सुनना बहुत कठिन और कष्टदायक है, परंतु यह सहनशीलता तुम्हारे भविष्य जीवन में बहुत काम आवेगी। लोग तुम्हारे विरुद्ध चाहे जितनी बातें कहें, इसी सहनशीलता के कारण तुम्हें उनसे कुछ भी कष्ट न होगा। इसलिये किसी की परवाह न करके जो कुछ उत्तम और उचित जँचे, वही करना चाहिए"—इत्यादि। इन घटनाओं ने और रानडे की सहन-

शीलता की शिक्षा ने रमाबाई पर बड़ा प्रभाव डाला। धीरे धीरे उन्होंने बरदाश्त करना सीख लिया, परंतु अपनी आत्मोन्नति के उपायों के अवलंबन को नहीं छोड़ा।

दौरे में रमाबाई भी रानडे के साथ जाने लगीं। रास्ते में जहाँ कहीं कन्या-पाठशालाएँ मिलतीं, वे रमाबाई को उनके देखने के लिये भेजते। तालेगाँव में लड़कियों के स्कूल में उन्होंने रमाबाई से व्याख्यान दिलवाया। फिर पूना में एज्यूकेशन कमीशन की सभा में रमाबाई का भाषण हुआ जिसकी स्वयं रानडे ने भी प्रशंसा की। रमाबाई को रानडे के साथ भारतवर्ष के प्रायः प्रत्येक प्रांत में देशाटन करने का भी अवसर मिला। कलकत्ते में रानडे ने आप बँगला भाषा सीखकर रमाबाई को सिखलाई।

गृहस्थी का भार सँभालने की जिम्मेदारी भी उन्होंने ही सिखलाई। पहले घर का खर्च रसोइए के सिपुर्द था। रुपया रमाबाई के पास रहता और हिसाब रसोइया रखता था। नासिक पहुँचकर रानडे ने लिखने का भार भी रमाबाई पर डाला। इनको हिसाब की जोड़ देने में, भूला-भटका हिसाब याद करने में घंटों लग जाते। ऐसी अवस्था में रानडे कभी कभी मदद कर देते। जब हिसाब लिखना उन्हें आ गया तब आपने एक दिन पहली तारीख को १००) देकर रमाबाई से कहा—"भोजन का खर्च महीना भर तक तुम्हीं चलाना।" इस समय आठ आदमियों का भोजन बनता था। रमाबाई ने समझा कि मास के अंत में इसमें से कुछ बच जायगा।

रानडे को उधार से बड़ी चिढ़ थी। उन्होंने रमाबाई से साफ कह दिया था कि किसी से कोई सौदा उधार न आवे। पहले ही महीने वे घबरा गईं। २५ ही तारीख को सब रुपए खर्च हो गए और इनको चिंता ने आ घेरा, यहाँ तक कि एक दिन वे रोने लगीं। रानडे ने पूछा कि चिंता का क्या कारण है। रमाबाई ने बात को टालना चाहा, पर अनजाने ही बातचीत में इनके मुँह से निकल गया कि "रुपया सब खर्च हो गया।" उन्होंने तुरंत कहा—"रुपया जितना चाहिए ले लो। इसमें रोने का क्या काम ? हमें तो तुम्हें गृह-प्रबंध की शिक्षा देनी है। रुपया लेती चलो और हिसाब ठीक ठीक लिखती चलो।"

धीरे धीरे रानडे अपनी पूरी तनख्वाह (८००) रुपया मासिक) रमाबाई को देने लगे। परंतु रमाबाई ५) से अधिक बिना इनके पूछे खर्च नहीं करती थीं।

इस प्रकार रानडे ने अपनी दूसरी स्त्री को हिंदू रमणियों में रत्न बना दिया। यद्यपि दूसरा विवाह इनकी इच्छा के विरुद्ध हुआ था तथापि इसके कारण ये अपने कर्त्तव्य-पालन में नहीं चूके। रमाबाई ने एक पाठशाला की कन्याओं को अपने व्याख्यान में, रानडे के जीवित काल में ही, कहा था कि "शिक्षा के कारण स्त्रियाँ स्वतंत्र या मर्यादा-रहित नहीं होतीं। सुशिक्षा से पुरुष और स्त्री दोनों ही विनय-संपन्न और नम्र होते हैं। विद्या, संपत्ति और अधिकार प्राप्त करके नम्र होने और

पति तथा बड़ों का आदर करने और उनके आज्ञानुसार चलने में ही लड़कियों का कल्याण है।" जो शिक्षा श्रीमती रमाबाई रानडे ने कन्याओं को दी थी उसको अपने जीवन में उन्होंने घटाकर दिखला दिया। जिस प्रकार इन्होंने पातिव्रत धर्म को निबाहा, जितनी अपने पति की सेवा की, जिस तरह कष्ट सहकर भी अपने पति की आज्ञा का पालन किया इसके उदाहरण उस पुस्तक में मिलते हैं जो उन्होंने मराठी भाषा में, रानडे के संबंध में, लिखी है। वे कभी रात को उनके पैर में घी लगातीं और इसी तरह सबेरा हो जाता, कभी उनको पुस्तकें पढ़कर सुनातीं, कभी उनके पत्रों के उत्तर लिखतीं, कभी उनके भोजन, जल-पान की चिंता में लगी रहतीं। रानडे के बीमार होने पर जितनी उन्होंने उनकी सेवा की, उसका वृत्तांत पढ़कर हृदय गद्‌गद हो जाता है। सुशिक्षित और सुधारक दल की होने पर भी जिस प्रकार उन्होंने पति-सेवा की उससे नव-शिक्षिता हिंदू रमणियों को आदर्श-शिक्षा मिलती है।

एक दिन की बात है कि रानडे महाबलेश्वर से आ रहे थे। रमाबाई उनके साथ थीं। रास्ते में घाट पड़ा। रानडे का नियम था कि वे दौरे पर घोड़ों और बैलों का बड़ा ख्याल रखते थे। उनसे इतना ही काम लेते थे कि जितना उचित होता। घाट में जितनी दूर तक बालू रहता, आप पैदल चलते थे। ऐसा ही इस बेर भी उन्होंने किया। रमाबाई भी गाड़ी से उतर गईं, पर बच्चों को सँभालकर बैठाने में

इनको कुछ देर लग गई। रानडे कुछ आगे बढ़ गए। संध्या का समय था। रानडे की आँखें कमजोर थीं। इसलिये रमाबाई तेजी से आगे बढ़ीं। रानडे ने जब उनको तेजी से चलते देखा, अपना क़दम धीमा कर दिया। इस समय रानडे एक भजन गाते जा रहे थे, इसलिये इनका पास पहुँचना उनको मालूम न हुआ। उसी समय एक पुल के पास प्रायः चार इंच लंबे दो काले बिच्छू आगे पीछे चले जा रहे थे। रमाबाई की दृष्टि रानडे के पैरों पर थी, इसलिये उन्होंने इन बिच्छुओं को देख लिया। रमाबाई यह समझकर कि रानडे का पैर उन पर पड़ना ही चाहता है, घबरा गई और चिल्लाने ही लगी थीं कि रानडे उनको लाँघकर आगे बढ़ गए। रमाबाई ने पास जाकर घबराई हुई आवाज से पूछा—"पैर में चोट तो नहीं आई ?" उन्होंने कहा—"क्यों, क्या हुआ, दम क्यों फूल रहा है ?" रमाबाई के आग्रह करने पर वे सड़क के एक ओर पत्थर पर बैठ गए। तब रमाबाई ने बिच्छुओं का सब हाल सुनाया और कहा—"आज बड़ा भारी अरिष्ट टल गया। यदि पाँव उन बिच्छुओं से छू भी जाता तो वे डंक मार देते। रात के समय इस जंगल में दवा आदि कहाँ से आती।" कुछ देर चुप रहकर रानडे ने कहा—अब तो अरिष्ट टल गया न ? इससे यही समझना चाहिए कि ईश्वर सदा हमारे साथ है और पग पग पर हमें सँभालता है। बिच्छुओं पर पैर न पड़कर जो पैर आगे पड़ा वह अवश्य

उसी की योजना है। जब तक वह रक्षा करना चाहता है तब तक कोई हानि नहीं पहुँचा सकता। यही भाव सबको रखना चाहिए—

जेथें जातों तेथें तू माझा सागाती।
चालविशी हातीं धरुनीयां॥

अर्थात्—जहाँ जहाँ मैं जाता हूँ तू रहता मेरे साथ।
मानों मुझे चलाता है तू पकड़े मेरे हाथ॥

यह अभंग कितना ठीक है। धन्य वे पुरुष और उनका निस्सीम भाव! जब अपने आपको अनुभव होता है तभी यह उक्ति ठीक मालूम होती है। हम दुर्बल मनुष्यों के लिये ऐसा भाव मन में धारण करना ही मानों बड़ी सामर्थ्य है और उसी में अपना कल्याण है।

इतने में गाड़ी आ गई और वे उसमें बैठ गए। इस घटना से रानडे की अद्भुत ईश्वर-भक्ति का ही नहीं परंतु रमाबाई की असीम पति-भक्ति का भी परिचय मिलता है।

एक स्थान में रमाबाई लिखती हैं—"उस रात को (जब रमाबाई बीमार थीं) हम लोगों को निद्रा नहीं आई। रात भर सैकड़ों विचार मेरे मन में उठते रहे। मैं सोचती, यदि मुझे कुछ हो गया तो आपकी सेवा का प्रबंध कौन करेगा। तो भी यदि आपके सामने ही मेरा शरीरांत हो जाय तो इसमें बुराई ही क्या है। मुझमें कोई गुण न होने पर भी ईश्वर ने कृपा करके मुझे आपके चरणों तक पहुँचाने का अनुग्रह

किया है और मुझे विश्वास है कि मेरा इस जन्म का संबंध भविष्य जीवन में भी बना रहेगा।"

रमाबाई की उक्त पुस्तक की भूमिका में माननीय गोखले ने ठीक लिखा है—"पश्चिमी समाज के अधिकांश परिवारों में दंपति में बहुत अधिक प्रेम होता है, परंतु तो भी उन लोगों में प्रायः समानता का व्यवहार होता है। दंपति में उसी प्रकार का प्रेम होते हुए भी पत्नी का पति-सेवा के लिये अपना सर्वस्व अर्पण कर देने में ही अपने को धन्य समझना पूर्वीय स्त्रियों और उनमें प्रधानतः भारतीय स्त्रियों का विशेष मनोधर्म है। यह मनोधर्म हजारों वर्षों के संस्कार और परंपरा का फल है और इस पुस्तक में उसका अत्यंत मनोहर स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। विचारों और आयुष्य-क्रम पर नई शिक्षा, नई कल्पना और नई परिस्थिति का नया प्रभाव पड़ने पर भी श्रीमती रानडे के समान स्त्रियों का मनोधर्म, ज्यों का त्यों बना रहता है इससे सब लोगों को शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।"

जिन जिन संस्कारों का विकास श्रीमती के हृदय में रानडे के सहवास से हुआ था, उन सबसे उन्होंने अपने देश को लाभ पहुँचाया। सरकार की ओर से उन्हें विशेष आज्ञा मिली कि वे सरकारी जेलखानों में जाकर कैदियों को धर्म की शिक्षा दें। वे उनको भगवद्गीता और अन्य धार्मिक पुस्तकें पढ़-कर सुनातीं और चरित्र-सुधार-संबंधी उपदेश करती थीं। आपका प्रभाव भारतीय स्त्रियों पर भी अच्छा पड़ा। आपके

व्याख्यान बड़े गंभीर और शिक्षाप्रद होते थे। महिला-परिषद् के पहले अधिवेशन में आपने प्रधान का आसन ग्रहण किया था। आपका पहनावा सीधा सादा दक्षिणी ढंग का था और आपका समय देशहितकारी कामों में ही बीतता था।

पूना में जो सेवा-सदन की शाखा है उसमें आपके द्वारा स्त्री-शिक्षा का प्रचार हुआ। इसमें स्त्रियों में रोगियों की शुश्रूषा का भाव, जिसका आधिक्य उनमें स्वभावतः ही होता है, बढ़ाया जाता है और इसका उचित कार्यक्रम बतलाया जाता है। पूना में श्रीमती रानडे के निरीक्षण में हिंदू रमणियों का एक सामाजिक क्लब बहुत दिनों से चल रहा था। इस क्लब ने विचार किया कि स्त्री-शिक्षा-प्रचार संबंधी कुछ कार्य करना चाहिए। उन्होंने सोच-विचार के अनंतर निश्चय किया कि जिन स्त्रियों की अवस्था अधिक हो जाय और वे अपढ़ रह जायँ अथवा जिनका पढ़ना विवाह के कारण रुक जाय उनके लिये पाठशाला खोलनी चाहिए। इस पाठशाला में दो कक्षाएँ खोली गईं और २० पढ़नेवाली मिल गईं। मराठी, गणित, अँगरेजी, गृह-चिकित्सा और प्रारंभिक आघातों की चिकित्सा की पढ़ाई आरंभ हुई। २ बजे से ४ बजे तक पढ़ाने का समय रखा गया जिसमें स्त्रियों के गृह-कार्य में विघ्न न पड़े। अक्तूबर सन् १९०९ में बंबई के सेवा-सदन की यह पाठशाला शाखा बनाई गई। धीरे धीरे इसमें इतनी उन्नति हुई कि दो कक्षाएँ और २० पढ़नेवालियों से अगस्त १९१५ में २० कक्षाएँ और २५३

पढ़नेवालियाँ हो गई। १९०९ से १९१५ तक कुल ७०० स्त्रियों ने शिक्षा पाई। १९२१ में यहाँ ९०० पढ़नेवालियाँ प्रति दिन आने लगीं। इस समय इसमें बिनाई, सिलाई, रोगियों की सेवा करना भी सिखलाया जाता है। १९११ से दाई का काम भी सिखलाया जाता है। जो गाना सीखना चाहें अथवा हारमोनियम बजाना सीखना चाहें उनके लिये भी उचित प्रबंध है। १९१४ से अध्यापिकाएँ भी यहाँ तैयार की जाती हैं। वे यहाँ शिक्षा पाकर स्त्रियों के ट्रेनिंग कालेज की परीक्षा देती हैं। सेवा-सदन की छात्राएँ अस्पतालों में गरीब रोगियों को फल बाँटती हैं और उनको धार्मिक पुस्तकें पढ़कर सुनाती हैं। कहीं आग लग जाय अथवा अकाल पड़े तो दुखियों के सहायतार्थ वे बाहर जाती हैं। वे अपनी संस्था के लिये चंदा माँगती हैं। चंदे से सदन की मासिक सहायता इस समय १७० स्त्रियाँ करती हैं जिनमें से अधिकांश ।।) मासिक देती हैं। चंदा माँगने और दुखियों की सहायता करने श्रीमती रानडे भी सबके साथ जाती थीं। श्रीमतीजी ने सदन के भवन बनने से पहले अपना गृह बिना किराए के और ५०००) नकद चंदा भी दिया था। इसके अतिरिक्त आपने सदन को १५०००) ऋण भी अपनी जिम्मेदारी पर दिलवाया था।

पूना म्यूनिसिपैलिटी में जब इस विषय पर विवाद हुआ कि प्राथमिक शिक्षा केवल लड़कों के लिये ही अनिवार्य की जाय अथवा लड़कियों के लिये भी, रमाबाई रानडे ने स्त्रियों

की ओर से कन्याओं की शिक्षा को भी अनिवार्य करने पर बड़ा आंदोलन किया था। स्त्रियों में इतना उत्साह आ गया कि उन्होंने नगर-कीर्तन निकाला और इस विषय के पक्ष में जनता में जागृति उत्पन्न कराई।

इसी प्रकार कौंसिल के लिये सभासद चुनने का अधिकार स्त्रियों को भी देना चाहिए इस विषय पर वे अपने उद्योग में सफल हुई। १९२१ में इस प्रस्ताव पर बंबई कौंसिल में तीन दिन तक विवाद हुआ था। अंत में यह पास हुआ और एकूजेक्यूटिव कौंसिल के सभासद लौरेंस महोदय ने कहा कि संसार में कोई भी कौंसिल ऐसी नहीं है जिसको रमाबाई रानडे अपनी उपस्थिति से सम्मानित और प्रतिष्ठित न करेंगी।

तिस पर भी रमाबाई में इतनी लज्जा थी कि अनिवार्य शिक्षा के लिये आंदोलन करनेवाली स्त्रियों के साथ वे फोटो उतरवाने के समय नहीं बैठीं और कौंसिल की मेंबरी की अधिकार-प्राप्ति के उद्योग में उनको अपरिचित कौंसिलरों के पास जाने में असमंजस मालूम होता था।

रानडे के कोई पुत्र नहीं हुआ, केवल एक पुत्री थी। उनके दो सौतेले भाई नीलकंठ और श्रीपाद हैं। नीलकंठ डाक्टर हैं, वे दक्षिणी अफ्रिका भी हो आए हैं और युद्ध में भी भेजे गए थे।

४ जून १९०० को रानडे ने अपना वसीयतनामा लिखा था जिसमें अपने भतीजे को गोद लेने का अधिकार रमाबाई को

दिया था और जब तक वह २१ वर्ष का न हो जाय, उन्हीं को उसका रक्षक बनाया था। रानडे के मरने पर उनकी जायदाद करीब दो लाख की बतलाई गई थी जिसमें से २५०००) वसीयतनामे के अनुसार धर्मार्थ था, १००००) की जायदाद पर पूर्ण अधिकार और २५०००) की मालियत के मकानों का किराया उनके जीवन-काल तक रमाबाई को दिया गया। शेष सब उन्होंने अपने भतीजे के नाम लिखा। रानडे के मरने के तीन मास उपरांत यह लड़का गोद लिया गया परंतु खेद का विषय है कि बालिग होने पर बालक में और रमाबाई में अनबन होने के कारण दोनों को कचहरी जाने की नौबत आई। खेद इस बात पर इसलिये अधिक है कि रानडे का अधिकांश धन देश-सेवा में लगना चाहिए था। श्रीमती रानडे ने १९२४ में शरीर त्याग किया।

---

(५) सरकारी नौकरी

वकालत की परीक्षा पास करते ही रानडे को २००) मासिक पर शिक्षा-विभाग में मराठी अनुवादक का पद मिला। २८ मई १८६६ से २० नवंबर १८६७ तक वे उस पद पर रहे। इस बीच में थोड़े दिनों के लिये वे अक्कलकोट की रियासत में सरकार की ओर से भेजे गए। रियासत में इनका काम इतना अच्छा हुआ कि ये ४००) मासिक पर कोल्हापुर में

न्यायाधीश चुने गए। पर इन्होंने उस समय तक एडवोकेट की परीक्षा पास नहीं की थी जिसके बिना इनको हाईकोर्ट में वकालत करने का अधिकार नहीं था। इसलिये कोल्हापुर की रियासत से इन्होंने इस्तीफा दे दिया। इसी बीच में एल्फिंस्टन कालेज में अँगरेजी भाषा और साहित्य के प्रोफेसर का स्थान थोड़े दिनों के लिये खाली हुआ। जब इनसे पूछा गया, इन्होंने उस पद को स्वीकार कर लिया। इनका काम इतना अच्छा हुआ कि जब असली प्रोफेसर साहब लौट आए तब इनके लिये सहायक अध्यापक का नया स्थान बनाया गया। वे इस पद पर सन् १८६८ से १८७१ तक रहे। १८७१ में उन्होंने एडवोकेट की परीक्षा बड़ी योग्यता से पास कर ली। इस समय यदि वे चाहते तो हाईकोर्ट में वकालत करना शुरू कर देते। वकील को परिश्रमी, साहसी, कानून की योग्यता रखनेवाला, अँगरेजी भाषा में अच्छे प्रकार बोलने की शक्ति रखनेवाला होना चाहिए। ये सब गुण इनमें थे। परंतु ये बड़े शरमाऊ थे, किसी काम में अपने को आगे नहीं रखते थे, अपनी विद्वत्ता पर इनको विश्वास नहीं था, ये दूसरों को अपने से अधिक योग्य समझते थे, इसलिये वकालत करने की ओर इनकी रुचि नहीं हुई। इसका एक कारण यह भी था कि एल-एल० बी० की परीक्षा पास करते ही इनको बड़ी बड़ी सरकारी नौकरियाँ मिलने लगीं। बँधो आमदनी छोड़कर वकालत करना इनके लिये अब कठिन था।

सन् १८७१ में एडवोकेट की परीक्षा पास करते ही ये बंबई के तीसरे पुलिस मैजिस्ट्रेट नियुक्त हुए और कुछ ही महीनों के पीछे बंबई के स्माल काज कोर्ट के चौथे जज हुए। इस पर वे २८ जुलाई से २२ सितंबर १८७३ तक रहे।

उसी वर्ष १६ नवबर को वे ८००) मासिक पर पूना के, प्रथम श्रेणी के, कायममुकाम सदराला बनाए गए। ६ फरवरी १८७३ को इसी पद पर वे मुस्तकिल किए गए। सरकारी नौकरी में इतनी शीघ्र उन्नति इनके अत्यंत परिश्रम और उत्तम न्याय के कारण हुई। तीस वर्ष के नवयुवक को पूना ऐसे स्थान में इतने बड़े पद पर प्रथम श्रेणी में बैठा देना प्रमाणित करता है कि सरकार को इनकी योग्यता पर पूर्ण विश्वास था। इनके फैसले बड़े विचारपूर्ण होते थे। हर एक मुकदमे की तह में जाकर रानडे एक एक बात पर अपनी स्पष्ट सम्मति देते थे। उस समय बंबई हाईकोर्ट में सर माइकल वेस्ट्रॉप चीफ जस्टिस थे। ये महानुभाव न्यायशास्त्र की योग्यता के लिये बड़े प्रसिद्ध थे। रानडे के फैसले अपील में इनके सामने बहुधा जाया करते थे। वेस्ट्रॉप साहब इनके फैसलों को पढ़कर बड़े प्रसन्न होते थे। एक बेर अपील सुनते हुए उन्होंने कहा कि "जिस सदराला ने इस फैसले को लिखा है वह हम लोगों के साथ हाईकोर्ट में बैठने की योग्यता रखता है।" जब वे पेंशन लेकर अपने देश को गए तब उन्होंने वहाँ से रानडे के पास १५ नवंबर १८८४ को एक प्रशंसा-

पत्र लिखकर भेजा और उसमें यह लिखा कि "बंबई हाईकोर्ट के चीफ जस्टिस के पद पर रहकर जितने अवसर मुझे आपके फैसलों को पढ़ने के मिले—और ऐसे अवसर मुझे कई वर्षों तक मिलते रहे—उनसे मैं कह सकता हूँ कि उस समय बंबई प्रांत में एक भी सदराला ऐसा नहीं था जिसके फैसलों में आपसे अधिक योग्यता और न्यायशास्त्र के ज्ञान का परिचय मिलता हो। आपको अपने काम के करने में आनंद प्राप्त होता है और उसी का यह फल है।"

आगे चलकर रानडे को दूसरे दर्जे के सदराला लोगों के फैसलों की अपील सुनने का अधिकार मिल गया। यह गौरव इसके पहले किसी सदराला को नहीं मिला था। इस काम को भी योग्यतापूर्वक करने से इनकी प्रशंसा और अधिक होने लगी।

पर किसी के भी दिन सदा एक से नहीं रहते। सन् १८७८ में रानडे की बदली पूना से नासिक की गई। उस समय सर रिचर्ड टेंपल बंबई के गवर्नर थे। इनको पूना के ब्राह्मण अच्छे नहीं लगते थे। इनका विश्वास था कि ये लोग राज-विद्रोही और फसादी होते हैं। इन्हीं दिनों सरकार ने नियम बनाया कि कोई सरकारी अफसर किसी स्थान में ५ वर्ष से अधिक न रहे। इसी नियम के अनुसार रानडे पूना से बदल दिए गए, पर इसका असली कारण यह था कि सन् १८७४-७५ में मल्हारराव गायकवाड़ का विषप्रयोगवाला मुक़-

दमा चल रहा था। किसी ने पूना से एक तार इस आशय का बड़ोदा भेजा कि यदि राज्य मुकदमा चलाना मंजूर न करे तो महाराज स्वयं अपने पक्ष में मुकदमा चलावें और उसके लिये पूनावाले एक लाख रुपए तक देने को तैयार हैं। इन्हीं दिनों एक आदमी कहीं से घूमता-फिरता पूना आ ठहरा। उसने सबसे मेल जोल रखने के अनेक उपाय किए। अपने स्थान पर वह पान, बीड़ी, ताश, सितार आदि आमोद की बहुत सी चीजें रखता था। धीरे धीरे उसके यहाँ पूनेवाले आने जाने लगे। किसी को यह न सूझा कि एक अपरिचित पुरुष से इतना घनिष्ठ संबंध रखना अनुचित है। यहाँ तक कि उस समय की बड़ी प्रतिष्ठित राजनैतिक "सार्वजनिक" सभा के मंत्री सीताराम हरि चिपलूणकर से उसकी बड़ी मित्रता हो गई। इन्हीं दिनों चिपलूणकरजी प्रति दिन रानडे के घर सभा की त्रैमासिक रिपोर्ट लिखने के लिये जाया करते थे। एक दिन रानडे ने उनसे उस आदमी का नाम और पता पूछा। उन्होंने उत्तर दिया कि "वह किसी को अपना नाम और पता नहीं बतलाता पर आदमी बड़ा विद्वान् और भद्र मालूम होता है।" रानडे ने कहा—"तुम सबसे पहले इस बात का पता लगाओ कि उसकी डाक कहाँ से आती है।" तीसरे दिन चिपलूणकरजी ने पता लगाकर कहा—"वह टेढ़े सीधे रास्ते से स्वयं डाकखाने जाता है। वहीं वह अपनी चिट्ठियाँ छोड़ता है और स्वयं ही अपनी डाक लाता है। कल उसका

एक फटा हुआ लिफाफा मुझको मिला। उस पर शिमले की मोहर है। साथ ही पोस्ट आफिस में एक मित्र से मालूम हुआ कि कलकत्ता वा शिमला के गवर्नमेंट सेक्रेटेरियेट से उसका पत्र-व्यवहार है। इसलिये आपका संदेह बहुत ही अंशों में ठीक मालूम होता है।" उसी दिन से लोगों का उसके यहाँ जाना आना बंद हो गया। वह भी तीसरे दिन पूना से चलता बना और चार महीने पीछे रानडे भी नासिक को बदल गए।

रानडे कष्ट को कष्ट नहीं मानते थे। दुःख में भी वे सुख की सामग्री ढूँढ़ लेते थे। नासिक जाकर उन्होंने एक बाग खरीद लिया जो मनोरंजन का एक साधन बन गया। इसमें वे सायंकाल सैर करते। रमाबाई अपने सामने फुलवाड़ी लगवातीं। इसमें तरकारी भी बोई जाती। नासिक में उन्होंने प्रार्थना-समाज स्थापित किया। वे वहाँ स्त्री-शिक्षा-प्रचार के उपाय करने लगे, मानों उन्हें सदा वहाँ रहना था।

सर रिचर्ड टेंपल गवर्नर के पद पर अभी तक विराजमान थे। सन् १८७९ की गर्मियों की छुट्टी में रानडे पूना आए। प्रतिदिन नगर के देशहितैषी नवयुवक उनके घर पर जमा होते। देशहित के कार्य्यों के नए नए साधन सोचे जाते। इसी बीच में रानडे के पास सरकारी आज्ञा पहुँची—छुट्टियाँ समाप्त होने की राह मत देखो। हुक्म पाते ही तुरंत धुले जाकर फर्स्ट क्लास सब-जज का चार्ज ले लो।

इस प्रकार के जनरैली हुक्म द्वारा बदली करने का कारण यह था कि पूना में उस साल वासुदेव बलवंत फड़के नाम के एक मोहर्रिर ने गाँवों में लूट-मार करा दी। फड़के अपने को शिवाजी का अवतार समझता था। उसने इधर उधर से अनेक चोरों और लुटेरों को जमा करके महाराष्ट्र राज्य फिर से स्थापित करने की मन में ठानी थी। वह समझता था कि दूर दूर के गाँवों में लूट-मार करने ही से उसका प्रबल राज्य स्थापित हो जायगा। परिणाम यह हुआ कि वह पकड़ा गया और अदन भेज दिया गया। एक बेर उसने वहाँ से निकल भागने का प्रयत्न किया जो निष्फल हुआ। अदन ही में वह मर भी गया। इन्हीं दिनों १६ मई १८७६ को रानडे नाम के एक दुष्ट ने रात को पेशवाओं के महल बुधवारबाड़ा और विश्रामबाग के उस अंश में, जहाँ पूना हाई स्कूल है, आग लगा दी। सवेरे तक यह दोनों स्थल जलकर भस्म हो गए। बुधवारबाड़ा में सरकारी बुकडिपो था। इसकी रक्षा रानडे नामधारी एक नौकर करता था। उसने यहाँ से बहुत सी पुस्तकें चुरा ली थीं। अपने अपराध को छिपाने के लिये सब पुस्तकों को भस्म कर देना ही उसने उचित समझा। आग लगानेवाले रानडे को पकड़ने में श्रीयुत रानडे ने सरकार की पूरी मदद की। परंतु बंबई के टाइम्स पत्र ने दोनों रानडे को एक ही वंश का बतलाकर आग लगाने के अभियोग में दोनों को अपराधी बतलाया। उस समय के गवर्नर रानडे

के विरोधी तो थे ही, अन्य सरकारी कर्मचारी भी दूध और पानी को अलग न कर सके। आग लगने के आठ दिन के अंदर उनको बदली का हुक्म मिल गया! जब रानडे पूना से चलने लगे, उनके मित्रों को बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने उनको सलाह दी कि आप सरकार को लिख दीजिए कि धुले का जलवायु मेरे अनुकूल न होगा। इसलिये मेरी बदली वहाँ न की जाय। लोगों ने रानडे को सावधान होने के लिये कहा और समझाया कि इस बदली के हुक्म में सरकार का कोई गूढ़ हेतु है। अपने समान सारे संसार का मन निर्मल समझने से काम न चलेगा, इत्यादि। पर रानडे ने साफ कह दिया—"जब तक मुझे नौकरी करनी है तब तक कोई बहाना नहीं ढूँढ़ूँगा। जहाँ बदली होगी, जाऊँगा। यदि कभी ऐसी आवश्यकता पड़ जायगी तो नौकरी छोड़कर अलग हो जाऊँगा।"

रानडे धुले पहुँचे। धुले खानदेश जिले का मुख्य नगर है। यहाँ न विद्या का प्रचार है न देश-हित की कुछ चर्चा है। सरकार ने समझा कि रानडे के लिये यही उपयुक्त स्थान है। उनके मित्र उनको सावधान रहने के लिये यहाँ भी लिखते रहे। लोगों का संदेह सच निकला। रानडे की चिट्ठियाँ इनको देर करके मिलने लगीं। किसी किसी चिट्ठी के देखने से यह मालूम होता था कि यह एक बेर खोलकर फिर से जोड़ी गई है। चपरासी से डाक देर करके लाने का

कारण पूछा गया। उसने उत्तर दिया कि पोस्ट मास्टर डिलीवरी का काम समाप्त करने के पीछे उनकी चिट्ठियाँ देते हैं। रानडे समझ गए कि उनकी डाक अवश्य सरकारी आज्ञानुसार खोलकर देखी जाती है।

चिट्ठियों की इस जाँच पड़ताल के साथ साथ इनके पास कुछ बनावटी चिट्ठियाँ भी आने लगीं। किसी किसी में वासुदेव बलवंत फड़के या हरि दामोदर के हस्ताक्षर होते और उनमें लिखा रहता कि अमुक स्थान पर बलवा होना निश्चय हुआ है, अमुक हत्यारे हमसे आकर मिल गए हैं, इत्यादि। ऐसी चिट्ठियों को रानडे लिफाफे सहित सुपरेंटेंडेंट के पास भेज देते।

उस समय धुले के असिस्टेंट कलेक्टर डाक्टर पोलन थे। एक दिन वे रानडे के घर गए और उनको गाड़ी में साथ बैठाकर हवा खाने ले गए। रास्ते में खूब बातचीत हुई। डाक्टर पोलन की बातों से स्पष्ट मालूम हो गया कि वे रानडे को अविश्वास की दृष्टि से देखते थे। परंतु मिलने पर दिल की सफाई हो गई और उन्होंने अपनी भूल स्वीकार की। पेनशन लेने पर स्वदेश लौटकर उन्होंने कई अवसरों पर कहा कि उनको भारतवर्ष में रानडे से बढ़कर विद्वान् और देशहितैषी नहीं मिला।

इधर वासुदेव बलवंत फड़के की डायरी पुलिस को प्राप्त हो गई। उसके देखने से मालूम हुआ कि उसके साथियों और सलाह देनेवालों में कोई भी सुप्रतिष्ठित और भला आदमी

नहीं था। आग लगानेवाले रानडे ने भी अपने इजहार में अपना अपराध स्वीकार कर लिया।

रानडे धुले में थोड़े दिनों के लिये डिस्ट्रिक्ट जज के पद पर भी रहे।

इस समय सर रिचर्ड टेंपल के स्थान पर सर जेम्स फर्ग्युसन गवर्नर हो चुके थे। जब रानडे के ऊपर से संदेह जाता रहा तब वे बंबई के प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट बनाए गए। अब तक इनको दीवानी के मुकदमे करने का अनुभव प्राप्त था, मजिस्ट्रेट होकर फौजदारी के मुकदमे करने पड़े। इससे पहले भी आप एक बेर मजिस्ट्रेट हो चुके थे। फौजदारी का काम आपने बड़ी योग्यता से किया। परंतु अँगरेजी अखबारों ने एक मुकदमे के कारण इनका बहुत विरोध किया। एक अँगरेज ५०) की चोरी के अपराध पर इनके सामने लाया गया। इन्होंने मुकदमे का सब वृत्तांत सुनकर उसको छः महीने की कैद का हुक्म दिया। अँगरेजी अखबारों ने बड़ा आंदोलन मचाया। उन्होंने लिखा कि रानडे अँगरेजों से द्वेष रखते हैं और अपने देशवासियों का पक्ष करते हैं। इस कथन के प्रमाण में उन लोगों ने आपके एक फैसले का हवाला दिया जिसमें आपने एक कोचवान को, जिसने सौ रुपए के नोट चुरा लिए थे, केवल एक महीने की सजा दी थी। उन लोगों ने लिखा कि अँगरेज को ५०) चुराने के लिये छः महीने की सजा और हिंदुस्तानी को १००) चुराने पर केवल एक महीने का दंड,

यह पक्षपात नहीं तो क्या हो सकता है। रानडे विरोध से डरते नहीं थे और न विरोधियों को प्रत्युत्तर ही देते थे। परंतु थाना स्थान के एक अँगरेज सिविलियन जज ने टाइम्स ऑव इंडिया को रानडे के पक्ष में एक पत्र भेजा। उसमें उन्होंने लिखा कि रानडे ने दोनों फैसलों में पूरा न्याय किया और कहीं भी द्वेष अथवा पक्षपात से काम नहीं लिया, क्योंकि जिस अँगरेज ने ५०) की चोरी की थी उसके पास उस समय भरा हुआ पिस्तौल था जिसको लेकर वह रेल के गार्ड के कमरे में घुस गया और गार्ड को अनुपस्थित पाकर ताला तोड़कर उसमें से ५०) मूल्य के कपड़े चुरा लाया। यदि उस समय उससे कोई छेड़-छाड़ करता तो वह अवश्य उस पर वार करता और अपने बचाने के लिये शायद खून भी कर बैठता। इसके विपरीत कोचवान के मालिक ने अदालत से यह कहा कि इसको सौ रुपए के नोट भुनाने के लिये दिए गए थे जिनको इसने अपने पास रख लिया। उसके मालिक ने यह भी बतलाया कि वह बड़ा पुराना नौकर था और उसने पहले कभी चोरी नहीं की थी। उसके मालिक ने अदालत से प्रार्थना की थी कि उसको हलका ही सा दंड दिया जाय। इसलिये अँगरेज और कोचवान के अपराध एक से नहीं थे। अँगरेज चोर अधिक दंडनीय था।

३ जनवरी १८८१ से २१ मार्च १८८१ तक रानडे बंबई में प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट रहे और वहाँ से प्रथम श्रेणी के सदराला

होकर फिर पूना आए। चार महीने के बाद आप पूना और सतारा की कचहरियों के निरीक्षण के कार्य के लिये असिस्टेंट स्पेशल जज नियुक्त हुए। ९ अगस्त १८८१ से उन्होंने यह काम आरंभ किया। इसमें साल में आठ महीने आपको दौरे ही पर रहना पड़ता था। आपका दफ्तर भी आपके साथ रहता था। इस काम में इनके अफसर अर्थात् स्पेशल जज वही डाक्टर पोलन थे जो धुले में असिस्टेंट कलेक्टर थे। इस काम को रानडे ने बड़े उत्साह से किया, क्योंकि स्पेशल जज के कर्त्तव्यों में एक कार्य यह भी था कि दक्षिण देश की रैयत के ऋण को हल्का करें। बहुत से कृषक इतने ऋणी हो गए थे कि इनके बाप दादा के समय की जायदाद गिरवी रखी हुई थी और ये लोग साहूकारों की हथेली के नीचे दबे जाते थे। दुःख को दूर करना तो इनके मन के अनुकूल कार्य था ही, इसलिये इस काम को वे बड़ी सहानुभूति और श्रम से करते थे। सन् १८८१ की वार्षिक रिपोर्ट में डाक्टर पोलन ने इनके संबंध में यह लिखा था कि—"इन महानुभाव के चित्त की ग्रहण-शक्ति और तीव्र निरीक्षण-शक्ति के कारण इनकी सम्मतियाँ महत्त्व की होती हैं।" १८८२ की वार्षिक रिपोर्ट में फिर डाक्टर पोलन ने इस प्रकार इनकी प्रशंसा की—इसके कहने की आवश्यकता नहीं कि इनके विचार अत्यंत आदर और श्रद्धा के योग्य हैं क्योंकि इनमें स्वाभाविक निरीक्षण-शक्ति के साथ यह गुण भी है

कि वे प्रत्येक विषय को कार्यरूप में लाने के साधन का ज्ञान भी रखते हैं।

२७ फरवरी १८८४ को वे पूना के खफीफा जज १२००) मासिक वेतन पर नियुक्त हुए। १ जनवरी से ३० अप्रैल १८८५ तक जजी के काम के साथ साथ वे डेकन कालेज में न्याय शास्त्र के अध्यापक का भी कार्य करते रहे; पर एकौंटेंट जनरल ने इस पर एतराज किया और लिखा कि कोई अफसर एक ही समय में दो पदों का वेतन नहीं ले सकता। इसलिए अध्यापक का कार्य इनको छोड़ देना पड़ा।

२३ नवंबर १८८५ को डाक्टर पोलन छुट्टी लेकर विलायत गए। सरकार ने रानडे को उनके स्थान पर स्पेशल जज नियुक्त किया। डाक्टर पोलन ने भी इसके लिए उनकी सिफारिश की थी। अब इनको पूना, सतारा, अहमदनगर और सोलापुर के जिलों में दौरा करना पड़ता था। जब वे असिस्टेंट स्पेशल जज थे उन्हें डाक्टर पोलन के आज्ञानुसार काम करना पड़ता था, यद्यपि उक्त साहब उनके कार्यों में बिलकुल हस्तक्षेप नहीं करते थे। स्पेशल जज होने पर उन्हें अब पूरी स्वतंत्रता प्राप्त हो गई। स्पेशल जज का यह कर्त्तव्य था कि गाँवों के मुकदमों का फैसला करने के लिये वह पंच मुकर्रर करदे और फिर गाँवों में स्वयं जाकर पंचों के फैसलों की जाँच करे। इसमें रैयत का बहुत कम खर्च होता था और उनको महीनों या सालों कचहरी नहीं दौड़ना पड़ता था। पोलन

साहब किसी एक स्थान पर जाकर पंचों को बुलवा भेजते थे और उनके कागजों की जाँच कर लेते थे, परंतु रानडे उनके गाँवों में जाकर अपना काम करते थे। इसमें उनको बहुत कष्ट भी होता था। कभी भोजन समय पर नहीं मिलता, कहीं कहीं सिवाय पैदल चलने के और किसी तरह जाना भी कठिन होता। इनकी स्त्री भी इनके साथ रहतीं। एक दिन रमाबाई ने कहा—"यदि प्रत्येक गाँव में न जाकर तालुके में ही सभों को बुलवाकर निरीक्षण कर लिया जाय तो हम लोगों को इतना कष्ट न सहना पड़े।" आपने उत्तर दिया—"सरकार ने हमें चैन से भत्ता लेने के लिये नियुक्त नहीं किया है। हमारी नियुक्ति से सरकार का मुख्य उद्देश्य कृषकों की अड़चनों को जानना और उन्हें दूर करना है। परंतु दिहात में जाने का कष्ट न उठाने से वह उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता। गाँवों में जाकर ही हम वहाँ के निवासियों के मन की बातें जान सकते हैं। व्यर्थ कष्ट उठाने का हमें शौक नहीं।" दौरे में तंबू, घोड़ा, गाड़ी, बैलगाड़ी, इत्यादि सब साथ रहते थे, परंतु जब ऐसे गाँवों में उन्हें जाना पड़ता कि जहाँ ये सब चीजें नहीं जा सकती थीं तब दो एक नौकर लेकर वे गाँव के किसी मंदिर अथवा धर्मशाला में ठहर जाते और वहीं अपना सब काम करते। भोजन के समय किसी को हटवाते भी नहीं थे। एक कोने में बैठकर जो कुछ मिलता खा लेते। गाँव के अहलकार, सेठ, साहूकार, अध्यापक इत्यादि आपसे

मिलने आते। उन सबसे मालगुजारी, फसल, व्यापार, त्योहार, पाठशाला, पुराण की कथा, भजनमंडली आदि सब विषयों पर बातचीत करते। कभी कभी उन लोगों को टहलने साथ ले जाते। इस प्रकार आपस में मेल करना उनके लिये सुगम हो जाता और जब कभी वे अपने अधीन सदराला लोगों के फैसलों को रद्द कर देते तब वे भी मुक्त कंठ से इस बात को स्वीकार करते कि रानडे ने ठीक किया। बहुत से अँगरेजों की यह सम्मति थी कि जिस नियम के अनुसार खेतिहर लोगों की दशा सुधारने का सरकार प्रयत्न कर रही है, वह दोषपूर्ण है। इस नियम का नाम १८७९ का डेकन रैयतृस रिलीफ ऐक्ट है। इसके विरोधी यह कहते थे कि इस देश में निर्लोभी, निष्पक्ष, सच्चे और समझदार पंच मिलने कठिन हैं। हाईकोर्ट के एक अँगरेज जज ने, जो पीछे से बंबई की एक्ज़ेक्यूटिव कौंसिल के मेंबर हो गए थे, बड़े जोर से इस ऐक्ट का विरोध किया और यहाँ तक कह डाला कि रैयत के दुःख तभी दूर होंगे जब यह मंसूख कर दिया जायगा। रानडे ने इस मत का प्रबल प्रमाणों से खंडन किया। उन्होंने सिद्ध किया कि यदि गाँव के पंचों के फैसलों का निरीक्षण सहानुभूति और योग्यता से किया जाय तो पंचों को एक प्रकार की शिक्षा मिलेगी और थोड़े ही दिनों में भारतवासियों में अपने झगड़ों को आप ही तै करने की प्रथा फिर से चल पड़ेगी। सन् १८९४ में इस ऐक्ट संबंधी जो घोषणापत्र सरकार ने निकाला था उसमें

रानडे की इस प्रकार प्रशंसा की थी—"इस ऐक्ट द्वारा सब कष्ट निस्संदेह दूर नहीं हो सकते, परंतु इसको सब मानते हैं कि इससे लोगों में अपव्यय न करने की ओर रुचि होगी। गवर्नर-इन-कौंसिल को पूरी आशा है कि मिस्टर जैाप का शासन ऐसा ही अच्छा होगा जैसा कि मिस्टर जस्टिस रानडे का था जिनके (इस ऐक्ट के) प्रबल समर्थन और सुंदर निरीक्षण ही का फल था कि यह ऐक्ट ऐसा लाभदायक हुआ जैसा संक्षेप में १८६३ की रिपोर्ट में वर्णित है।"

इन्हीं दिनों गायकवाड़ बड़ोदा ने इनको ५०००) मासिक पर अपने यहाँ दीवान बनाना चाहा परंतु रानडे अपने कार्य में जितनी स्वतंत्रता और जितने अधिकार माँगते थे उनको महाराज ने देना स्वीकार नहीं किया।

१३ अप्रैल १८८६ को लार्ड डफरिन की सरकार ने एक कमेटी सर चार्ल्स इलियट के सभापतित्व में इस विषय पर विचार करने के लिये बनाई थी कि भारतवर्ष की आर्थिक अवस्था कैसी है और उसमें क्या सुधार हो सकता है। इसके एक सभासद सर विलियम हंटर भी थे। इसमें रानडे ही केवल एक हिंदुस्तानी थे। इसके लिये रानडे को प्रायः चार मास तक शिमला में, एक मास मद्रास में और कई महीनों तक कलकत्ते में रहना पड़ा। इस कमेटी ने चुने चुने लोगों के इजहार लिए और बड़ी भारी रिपोर्ट निकाली। परंतु उन सबका फल कुछ भी न हुआ। कमेटी में रानडे ने बड़ी

योग्यता और स्वतंत्रता से अपने विचार प्रकट किए और इसी के उपलक्ष में उनको सी० आई० ई० की उपाधि मिली।

कमेटी की समाप्ति पर सन् १८८८ में आप फिर स्पेशल जजी के काम पर लौटे। स्पेशल जजी की अवस्था में आप तीन बेर बंबई की लेजिस्लेटिव कौंसिल के सरकार की ओर से मेंबर बनाए गए। सन् १८८५ और १८९० में लार्ड रे साहब गवर्नर और १८९३ में लार्ड हैरिस साहब गवर्नर ने इनको कानून बनाने में सरकार की सहायता करने के लिये कौंसिल का मेंबर नियत किया। कौंसिल का काम जिस योग्यता से उन्होंने किया उसका परिचय इस बात से मिल जायगा कि ६ मई १८८७ को लार्ड रे ने जो पत्र इनके पास भेजा था उसमें लिखा था—"मुझे आशा है कि कौंसिल के मेंबर होकर जो अमूल्य सेवा आपने की है उसके लिये मेरे अनेक धन्यवाद आप स्वीकार करेंगे।"

लार्ड हैरिस ने भी १० मार्च १८९२ को इनके पास एक पत्र भेजा था जिसमें लिखा था—"आपने जो कौंसिल के विचारों में हमारी उज्ज्वल सहायता की थी उसके लिये मैं इस पत्र द्वारा आपको हृदय से धन्यवाद देता हूँ।"

यहाँ यह लिख देना आवश्यक है कि समय समय पर रानडे को देशी रियासतों में नौकरी करने के लिये कई बेर बुलावा आता रहा। वे जब पूना में सदराला थे तब बड़ोदा में दादाभाई नौरोजी दीवान थे। उन्होंने दीवानी के महकमे

की अफसरी के काम के लिये इनको चुना था, परंतु इन्होंने वहाँ जाना स्वीकार नहीं किया। सर तानजोर माधवराव ने दीवान होने पर इनको फिर बड़ोदा में २०००) मासिक पर चीफ जस्टिस के पद पर बुलाना चाहा। महाराज होल्कर ने दो बार इनको ३५००) मासिक पर दीवान बनाना चाहा। सर माइकल वेस्ट्रॉप और सर चार्ल्स सारजेंट, जो भिन्न भिन्न समयों पर बंबई हाईकोर्ट के चीफ जस्टिस थे, इनको पूर्ण आशा दिलाते रहे कि आप अँगरेजी सरकार में उच्च से उच्च पद, जो हिंदुस्तानी को मिल सकता है, पाएँगे। सर विलि-यम वेडरबर्न ने भी, जो पीछे से कांग्रेस के सभापति हुए थे, एक पत्र में इनको यही सलाह दी थी। उन्होंने लिखा था—"देशहित का विचार करके मैं तो यही सलाह दूँगा कि आपके लिये पूना ही में रहना अच्छा है; इस समय पूना बुद्धिमत्ता, स्वतंत्रता और शांति से देश-सेवा करने में सारे भारतवर्ष में अग्रगण्य होता हुआ प्रतीत होता है। मुझे इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि पूना का यह गौरव बहुत कुछ आपके प्रभाव के कारण है। यह प्रभाव वहाँ से हटा लिया जायगा तो देश के दुर्भाग्य होंगे।" इन्हीं कारणों से रानडे ने देशी रियासतों की नौकरी स्वीकार नहीं की।

१ सितंबर १८९३ को बंबई हाईकोर्ट के सुप्रसिद्ध जज काशीनाथ त्र्यंबक तैलंग का देहांत हो गया। उनकी मृत्यु पर रानडे उनके स्थान पर चुने गए। उस समय वे स्पेशल जजी

के काम पर सोलापुर में दौरे पर थे। सोलापुर नगर में इस समाचार को सुनकर बड़ा आनंद हुआ और इनके बहुत मना करने पर भी लोगों ने स्टेशन से चलते समय बड़े समारोह के साथ इनकी बिदाई की। वे सोलापुर से पूना आए। वहाँ के लोगों की खुशी का क्या कहना था। उन दिनों रानडे का स्वास्थ्य अच्छा नहीं था, परंतु वहाँ के लोग रात-दिन इनको घेरे रहते थे और वे इतने प्रसन्न थे कि मानों उन्हीं की स्वयं नियुक्ति हुई है। भारतवर्ष में प्रायः सभी समाचार-पत्रों ने इस पर प्रसन्नता प्रकट की। प्रत्येक प्रांत से उनके पास बधाई के पत्र आए। विलायत से लार्ड रे, सर जेम्स पील, सर रेमंड वेस्ट, सर विलियम वेडरबर्न इत्यादि महानुभावों ने इनको पत्र भेजे। सर जेम्स पील ने अपने दूसरी नवंबर १८९३ के पत्र में लिखा कि "मुझे यह जानकर बड़ा संतोष हुआ कि आप हाईकोर्ट के जज हुए। मिस्टर जस्टिस तैलंग के स्थान पर किसी का भी जज नियुक्त होना बड़े गौरव की बात है, परंतु मुझे पूरी आशा है कि आपको सब लोग इस आदर के योग्य समझते हैं। आपने जो अब तक सेवा की है उसका यह ठीक पुरस्कार है। स्पेशल जजी का जो कार्य आपने किया है वह साधारण और सहल नहीं है"—इत्यादि।

सर रेमंड वेस्ट के दूसरी नवंबर के पत्र के कुछ अंशों का अनुवाद करना आवश्यक है क्योंकि इससे यह मालूम होता है कि वे अँगरेज भी, जो प्रायः इनसे सहमत नहीं रहते थे, इनका

कितना आदर करते थे। उन्होंने लिखा था—"मैं आपके हाईकोर्ट के जज होने पर आपको बधाई देने के लिये चंद सतरें लिखता हूँ। यदि मैं इस समय बंबई गवर्नमेंट का सलाहकार होता तो जिसको जज करने का मैं प्रस्ताव करता वही महाशय जज नियुक्त किए गए। हमारे विख्यात और विद्वान् मित्र तैलंग की मृत्यु से जो जगह खाली हुई है उसके लिये आपसे अच्छा कोई दूसरा नहीं मिल सकता। हाईकोर्ट में पहुँचकर आपके देशहित की सीमा बढ़ जायगी × × × × शायद आप राजनैतिक संस्थाओं में अब काम न कर सकें, परंतु आपका जजी का उच्च पद और आपकी योग्यता, जिसको सब लोग स्वीकार करते हैं, आपको इस बात का अवसर देगी कि आप अपना प्रभाव देश के सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र पर डालें जिसमें लोगों का उपकार हो और उस गवर्नमेंट का आदर बढ़े कि जिसके आप एक अंग हैं। इस बात से आपकी जाति के नवयुवकों का और विशेषकर जजों का उत्साह बढ़ेगा कि वह योग्यता और बुद्धि का पात्र जिस पर एक बेर ध्यान नहीं गया और दूसरी बेर कोप की दृष्टि की गई उसका अंत में आदर ही हुआ और मुझे पूरी आशा है कि हाईकोर्ट के हिंदुस्तानी जज अब तक जैसे योग्य होते चले आए हैं वही योग्यता आपके आने से कायम रहेगी।"

सर रेमंड वेस्ट ने इस पत्र में स्पष्ट लिख दिया कि रानडे की बुद्धि और योग्यता पर कई बेर ध्यान नहीं गया और कभी

कभी उन पर वृथा कोप दिखलाया गया। उनका संकेत उस समय पर है जब सर रिचर्ड टेंपल की गवर्नरी के काल में इनको नासिक और धुले जाना पड़ा था। उनके सब मित्रों का विश्वास था कि जस्टिस नानाभाई हरिदास की मृत्यु पर रानडे जज बनाए जायँगे, परंतु काशीनाथ त्र्यंबक तैलंग उस समय वकीलों में प्रसिद्धि के शिखर पर पहुँचे हुए थे। उनकी संस्कृत की व्युत्पत्ति, उनकी वक्तृत्व-शक्ति, उनकी देश-हितैषिता ने सबको आकर्षित कर लिया था। तैलंग रानडे के शिष्य थे, पर तिस पर भी वकील होने के कारण उनकी ओर ध्यान पहले गया। इस बात से रानडे को भी बड़ी प्रसन्नता प्राप्त हुई थी और तैलंग महोदय को बधाई देने के लिये बंबई में जो सभा हुई थी उसमें रानडे ने बड़ी प्रभावशालिनी वक्तृता दी थी।

जिस प्रकार अँगरेज मित्रों ने उनको पत्र भेजे थे उसी प्रकार उनके हिंदुस्तानी मित्रों के भी पत्र आए थे। भारतवर्ष के हर प्रांत के समाचारपत्रों ने इनकी प्रशंसा की थी और इनकी नियुक्ति पर अत्यंत संतोष प्रकट किया था। पूना में उनकी बिदाई में कितने ही भोज और पान सुपारी के जलसे और सभाएँ हुईं। कहीं कहीं तो लोगों ने इनकी इच्छा के विरुद्ध खुशी में आतिशबाजी भी छुड़वा दी। रानडे पूना में २२ वर्ष तक रह चुके थे, इसलिये वहाँ के लोग उनसे बड़ा स्नेह रखते थे।

बंबई पहुँचने पर आपका बड़ा आदर हुआ। नवंबर १८९३ से जनवरी १९०१ तक आपने हाईकोर्ट की जजी की।

इनके साथी जज और बैरिस्टर वकील इन पर बड़ी श्रद्धा रखते थे। इनके फैसलों का बड़ा आदर होता था। बहुत से अनुभवी विद्वानों की सम्मति है कि यदि रानडे अपने जीवन-काल में हाईकोर्ट की जजी ही करते तो भी उनका नाम चिर-स्मरणीय रहता क्योंकि उनके फैसलों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे हर एक मुकदमे में सत्य का अनुसंधान करने का प्रयत्न करते थे। चीफ जस्टिस सर लारेंस जेंकिंस ने उनके जजी के कार्य के संबंध में उनकी मृत्यु पर कहा था—"उनके साथ जजी का काम थोड़े दिन भी करने से मालूम हो जाता था कि वे गंभीर और सहानुभूति-पूर्ण जज थे जिनकी निरीक्षण-शक्ति बड़ी उच्च श्रेणी की थी और जिनको सदा जो उचित है वही करने का प्रबल विचार रहता था। उनकी सम्मति उनके सहायक जजों के लिये बड़ी अमूल्य थी और उनके फैसले भविष्य में उनके पांडित्य और विद्वत्ता के स्मारक रहेंगे।"

हिंदू धर्मशास्त्र का ज्ञान, साक्षी की जाँच पड़ताल, भारतवासियों के चरित्र से पूर्ण परिचय, परिश्रम इत्यादि गुणों की, जो रानडे में थे, उन सब जजों ने प्रशंसा की है जो उनके साथ काम करते थे। जजी की कुर्सी पर बैठकर उन्होंने किसी वकील या गवाह या मुअक्किल को कठोर शब्द नहीं कहा। वे स्वयं घर से तैयार आते थे और हर एक मुकदमे की बातें उन्हें याद हो जाती थीं। इसलिये, वकील और मुअक्किल सबका उन पर विश्वास था। सब समझते थे कि वे न्याय करेंगे।

(६) देश-सेवा

"Wanted a man who is larger than his calling, who considers it a low estimate of his occupation to value it, merely as a means of getting a living. Wanted a man who sees self-development, education and culture, discipline and drill, character and manhood in his occupation."

—Marden

All good work is God's work.

स्वर्गवासी ह्यूम साहब ने, जिनको कांग्रेस का जन्मदाता कहते हैं, जो भारतीय सिविल सर्विस के बड़े उच्च पदाधिकारी रह चुके थे और जिनसे उस समय के प्राय: सभी सुप्रसिद्ध लोगों से परिचय था, रानडे के संबंध में लिखा था कि "भारत में यदि कोई व्यक्ति ऐसा था जिसको पूरे चौबीस घंटे अपने देश का ही विचार रहता था तो वह व्यक्ति रानडे था।" मिस्टर ह्यूम उनको "गुरु महादेव" कहकर पुकारते थे। रानडे के जीवन का बहुत सा समय पूना और बंबई में व्यतीत हुआ था। डाक्टर पोलन कहा करते थे कि रानडे पूना के बिना छत्रधारी राजा हैं। जब तक वे पूना में रहे, कोई भी संस्था ऐसी नहीं बनी कि जिसको या तो उन्होंने स्थापित न किया हो अथवा उसकी उन्नति में योग न दिया हो।

सन् १८६२ ई० में 'इंदुप्रकाश' पत्र अँगरेजी और मराठी में निकलने लगा। इसके अँगरेजी विभाग के संपादक रानडे

नियुक्त हुए। उस समय इस देश में पत्रों की संख्या बहुत कम थी और पत्र-संपादन की योग्यता भी लोगों में कम थी। रानडे के लेखों ने सरकार और शिक्षित-समाज को इस पत्र की ओर आकर्षित करा दिया। उनके अनेक बड़े महत्त्वपूर्ण लेख छपे जिन्होंने, विशेषकर पानीपत के युद्ध की 'शताब्दी' के लेख ने, इस पत्र को बड़ा सर्वप्रिय कर दिया।

सन् १८७१ में वे पूना के सबजज हुए थे और १८९३ तक प्रायः वहीं रहे। बीच बीच में यदि कहीं बदली भी हुई तो घूम फिरकर फिर वे पूना में पहुँच जाते। पूना के देशभक्त और भिन्न भिन्न संस्थाओं के प्रवर्त्तक और कार्यकर्त्ता लोगों की सदैव इनके यहाँ भीड़ लगी रहती थी। देशहित का ऐसा कोई कार्य नहीं था जिसमें उनको अनुराग न हो। उनका मत था कि देश में धार्मिक, सामाजिक, औद्योगिक, राजनैतिक उन्नति एक साथ होनी चाहिए। वे दूरदर्शी और गंभीर थे। उनका विश्वास था कि धैर्य, शांति और विचार से कार्य अधिक होता है और उसका प्रभाव अमिट होता है। उन्हें विद्रोह, विप्लव और अशांति से घृणा थी। एक व्याख्यान में उन्होंने कहा था—"संशोधन करनेवालों को कोरी पटिया पर लिखना आरंभ नहीं करना है। बहुधा उनका कार्य यही है कि अर्द्ध-लिखित वाक्य को पूर्ण करें। वे जो कुछ उत्पन्न किया चाहते हैं, अपने अभिलषित स्थान पर तभी पहुँच सकते हैं जब वे जो कुछ प्राचीन काल में सत्य ठहराया गया है उसे सत्य मान लें।

और बहाव में कभी यहाँ और कभी वहाँ, धीमा सा घुमाव दे दें, न कि उसमें बाँध बाँधें अथवा उसको किसी नूतन स्रोत की ओर बरबस ले जायँ।" पर उनके शब्द-कोष में शांति का अर्थ आलस्य नहीं था। जहाँ जहाँ वे रहे, वहाँ की अवस्था के सुधार में तन, मन, धन से लग जाते। पूना में पचीसों संस्थाएँ हैं जिनको उन्होंने जीवन प्रदान किया था। सार्वजनिक सभा का, जिसको सन् १८७१ ई० में स्वदेशी आंदोलन के जन्मदाता श्रीयुत गणेश वासुदेव जोशी ने स्थापित किया था और जो किसी समय में प्रसिद्ध राजनैतिक सभा थी, सब कार्य प्राय: ये ही किया करते थे। राजनियम संबंधी सुधार पर जितने पत्र यह सभा गवर्नमेंट को भेजा करती थी, प्राय: उन सबको ये ही लिखा करते थे। इन्हीं की सलाह से सन् १८७६ के दुर्भिक्ष में इस सभा ने अकाल-पीड़ित लोगों की रक्षा के लिये ऐसे उत्तम उपाय किए थे जिनसे यह सबकी प्रशंसापात्र बन गई थी। इन्हीं ने इस सभा की एक त्रैमासिक पत्रिका निकाली जिसमें वे स्वयं बड़े गंभीर, सामयिक और महत्त्व के लेख लिखते थे। इनकी मृत्यु के अनंतर टाइम्स ऑव इंडिया पत्र ने लिखा था कि इनके वे पुराने लेख यदि पुस्तकाकार छपवा न लिए जायँगे तो एक प्रसिद्ध देश-हितैषी के विचारपूर्ण लेख गुप्त ही रह जायँगे।

पूना के फर्ग्युसन कालेज के भी, जो इस समय भारतवर्ष में विद्यार्थियों की संख्या और अध्यापकों के आत्म-समर्पण में

सबसे बड़ा कालेज समझा जाता है, संस्थापकों में से रानडे थे। पूना पुस्तकालय और प्रार्थना-समाज के भवन उन्हीं की सहायता और उत्तेजना से बने थे। सन् १८७५ में वसंत व्याख्यान-माला रानडे और उनके मित्रों ने स्थापित की थी जिसमें इतिहास, पुराण, समाजसुधार, राजनीति, शिक्षा आदि विषयों पर मराठी भाषा में प्रतिवर्ष व्याख्यान होते थे और अब भी हुआ करते हैं।

पूना में रानडे से पचास वर्ष पहले एक सभा थी जो मराठी भाषा में पुस्तकों के अनुवाद करती थी। यह सभा टूट गई थी और इसका रुपया बंबई के एकौंटेंट जेनरल के दफ्तर में जमा था। रानडे का विचार इसी प्रकार की एक सभा खोलने का था। जब उनको मालूम हुआ कि पुरानी सभा का रुपया गवर्नमेंट में जमा है तब उन्होंने सभा का पुनरुद्धार किया और सरकार में जमा किया हुआ रुपया ब्याज-सहित वसूल किया।

पूना में एक कंपनी है जिसके द्वारा रेशमी और सूती कपड़े बनते हैं। एक समय में इसकी अवस्था बड़ी शोचनीय हो गई थी, परंतु रानडे ने इसकी रक्षा की। इसी प्रकार वहाँ के पेपर मिल को इन्होंने सुधारा। वक्तृतोत्तेजक सभा, वसंत व्याख्यान-माला इत्यादि के प्रबंध में भी आपने योग दिया। एक पंचायत आपने स्थापित कराई थी जो मुकदमेवालों में मेल कराती थी। हीराबाग में टौनहाल आप ही के उद्योग से बना था।

एक अजायबघर भी आपने स्थापित कराया था। इसी प्रकार की अनेक संस्थाएँ आपके पूना में निवास-काल में स्थापित हुई थीं। जब वहाँ से इनकी नासिक और धुले की बदली हुई तब वे छुट्टियाँ पूना ही में बिताते थे। दिन के बारह एक बजे तक और रात को भी १० बजे तक लोग इनके यहाँ जमा रहते थे। हर रोज किसी न किसी कमेटी या सभा या अन्य देशहित-कार्य के आरंभ करने के प्रस्ताव होते थे। कभी कभी उनको केवल दो घंटे सोने का अवकाश मिलता था। एक दो बार तो नवीन विचारों की चिंता ही में सबेरा हो गया। इस प्रकार पूना में वे अपनी छुट्टियाँ बिताते थे। जब वे पूना से बंबई हाईकोर्ट की जजी पर गए तब उन्होंने २५०००) अनेक संस्थाओं को दान दिया था।

जब आप नासिक बदल गए तब वहाँ जाकर भी आपने प्रार्थना-समाज स्थापित किया। स्त्रियों के व्याख्यान, उपदेश इत्यादि का प्रबंध किया। कन्या-पाठशाला की उन्नति की। फिर जब धुले ऐसी जगह में बदली हो गई तब वहाँ जाकर भी वे देश-सेवा के अनेक उपाय करने लगे। जब वे दौरे का काम करते थे तब गाँवों में या कसबों में भी कन्या-पाठशालाएँ अथवा अन्य प्रकार की संस्थाएँ स्थापित कराते थे।

बंबई विश्वविद्यालय के फेलो आप १८६५ ई० में चुने गए थे। बंबई पहुँचकर आपने युनिवर्सिटी में भी काम करना शुरू कर दिया। उस समय सर मंगलदास नाथूभाई ने

मृत्यु से पहले एक वसीयतनामे द्वारा ३½ लाख रुपया युनि-र्वर्सिटी को देने के लिये लिखा था, परंतु उनके उत्तराधिका-रियों में झगड़ा हो गया और इस अवस्था में वे युनिवर्सिटी को एक पैसा भी देना नहीं चाहते थे, किंतु रानडे ने प्रेम और युक्ति द्वारा उनको रुपया देने पर राजी कर लिया। इस बात को बंबई के लाट साहब लार्ड नार्थकोट ने कनवोकेशन के व्याख्यान में, इनकी मृत्यु के उपरांत, कहा था।

विश्वविद्यालयों में देशी भाषाओं को स्थान दिलाने का भी उन्होंने अनेक बार प्रयत्न किया। युनिवर्सिटी परीक्षाओं के स्थापन होने के आरंभ के समय में, सन् १८५९ में, देशी भाषाएँ पढ़ाई जाती थीं, परंतु १८७० से उनको परीक्षाओं से यह कहकर निकाल दिया गया कि इनमें संस्कृत और अरबी जैसा साहित्य नहीं है। रानडे ने एक बेर विश्वविद्या-लय के अनेक मेंबरों के हस्ताक्षर से, जिनमें कई मुसलमान और पारसी भी थे, एक पत्र युनिवर्सिटी में इस विषय का भिजवाया कि बी० ए० और एम० ए० के अनेक विषयों में मराठी और गुजराती को भी स्थान दिया जाय और प्रत्येक विद्यार्थी को अधिकार रहे कि यदि वह चाहे तो इन देशी भाषाओं में भी परीक्षा दे सके। जब यह विषय सिंडिकेट में उपस्थित किया गया, रानडे ने बड़ी योग्यता से इसका समर्थन किया, पर जब उपस्थित सभासदों की सम्मति ली गई तब आधे इसके पक्ष में और आधे विरुद्ध हो गए। जो

महानुभाव सभापति के आसन पर विराजमान थे उन्होंने उनके विरुद्ध सम्मति दी। इस पर यह प्रस्ताव पास नहीं हुआ। देशी भाषाओं के भक्तों को इस पर बड़ा दुःख हुआ और उनमें से कई एक का उत्साह कम हो गया, परंतु रानडे ने उनको समझाया कि इस विषय में कुल सभासदों में आधे का भी इस पक्ष में हो जाना भविष्य के लिये अच्छे लक्षण हैं। जो इस प्रस्ताव के विरुद्ध थे उनको अपनी ओर लाने के लिये उन्होंने इस समय मराठी भाषा का एक इतिहास लिखा। बहुत से लोगों का विश्वास था कि देशी भाषाओं में केवल गँवारी बातें हैं, उनमें साहित्य का नाम भी नहीं है। रानडे ने ग्रंथों के नाम, ग्रंथकारों का संक्षिप्त विवरण और उनकी विषय-सूची लिखकर इस इतिहास में यह दिखलाया कि मराठी भाषा में पद्य के बहुमूल्य ग्रंथ मिलते हैं जिनमें विद्वानों को साहित्य का पूर्ण रस-स्वाद प्राप्त हो सकता है। हाँ, गद्य के ग्रंथों का अवश्य अभाव है, पर यह दोष संस्कृत में भी है। इस प्रकार लोगों का मत परिवर्त्तन करने का पूरा प्रयत्न करके रानडे ने फिर इस विषय को सिंडिकेट में उपस्थित कराया। सिंडिकेट ने इस विषय पर विचार करने के लिये तीन सभासदों अर्थात् मिस्टर रानडे, मिस्टर (सर फिरोज-शाह) मेहता और डाक्टर माकीकन की एक सब-कमेटी बना दी। इस सब-कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में इस विषय का समर्थन किया कि अँगरेजी कोर्स के साथ संस्कृत और फारसी के

बदले मराठी या गुजराती पढ़ना विद्यार्थियों की इच्छा पर छोड़ देना चाहिए। सब-कमेटी ने स्पष्ट शब्दों में लिखा कि मराठी और गुजराती जीवित भाषाएँ हैं। इन भाषाओं और उनके इतिहास का ज्ञान बालकों के लिये अत्यंत लाभकारी होगा। उन्होंने यह भी बतलाया कि अँगरेजी पढ़े लिखे लोग अँगरेजी-साहित्य, अँगरेजी-इतिहास और विज्ञान शास्त्र इत्यादि विषयों पर देशी भाषाओं में जन-समूह के उपकारार्थ उस समय तक ग्रंथ नहीं लिख सकते जब तक उनको इन भाषाओं का ज्ञान न होगा। इसी प्रकार अनेक प्रमाणों से इस सब-कमेटी ने प्रस्ताव किया कि एम० ए० परीक्षा के लिये मराठी और गुजराती रखी जाय। इसका पढ़ना विद्यार्थियों की इच्छा पर छोड़ा जाय। सब-कमेटी की रिपोर्ट का बहुत सा अंश रानडे ने लिखा था। २६ जनवरी १६०१ को सेनेट ने इस रिपोर्ट को स्वीकार किया और गुजराती और मराठी के साथ कानड़ी भाषा को एम० ए० की परीक्षा में स्थान दिया। परंतु इससे पूर्व रानडे इस संसार से बिदा हो चुके थे।

रानडे की देश-सेवा अनेक मार्गों में झुकी हुई थी। विद्यार्थियों में विद्यानुराग और देश-सेवा का वे संचार करते थे। नवयुवकों के उत्तेजक थे। अनेक संस्थाओं के वे प्रवर्त्तक थे। राजनैतिक, औद्योगिक, धार्मिक, समाज-सुधार और विद्याप्रचार संबंधी उनके अनेक कार्य देशवासियों की संपत्ति के समान हैं।

---

(७) स्वभाव और चरित्र

रानडे का स्वभाव सात्त्विक था। धैर्य, क्षमा, निःस्पृहता इत्यादि गुणों की वे खान थे परंतु इनके साथ ही असहाय के साथ सहानुभूति, रात दिन परिश्रम करना इत्यादि गुण भी उनमें थे। भारतवासी आजकल अच्छा आदमी प्रायः उसी को समझते हैं जो दुनिया की झंझटों से अपने को दूर रखे, जो हर एक की हाँ में हाँ मिला दे, जो अन्याय और अत्याचार देखकर भी विचलित न हो, जो परंपरागत प्रणाली में अपने को डाल दे और इस बात पर विचार न करे कि इस प्रणाली में क्या दोष है। हमारे देश में जो विद्वान् हैं वे पठन-पाठन ही में जीवन बिता देते हैं। यदि किसी ने बहुत घेरा तो दो एक सभा सोसाइटी में आकर उन्होंने सभापति का आसन ग्रहण कर लिया। इसके विपरीत जो लोग देश-हित के कामों में लगे रहते हैं उन्हें पढ़ने-लिखने का समय ही नहीं मिलता। जो एक सभा में काम करता है उसको सब सभावाले अपनी तरफ खींचते हैं। इसका परिणाम यह है कि जो विचारशील हैं उनमें उद्योग का अभाव है और जो उद्योगी हैं वे मननशील नहीं हैं। रानडे उन थोड़े भारतवासियों में से थे जिनमें विद्वानों के गुणों अर्थात् विद्याभिरुचि, नम्रता, पितृभक्ति, ईश्वर में अगाध विश्वास और गंभीरता के साथ कार्य-कुशलता, देशहित और परिश्रमादि गुण भी थे।

ईश्वर-भक्ति

रानडे तीन चार बजे प्रात:काल उठ जाते और उसी समय अपनी धर्मपत्नी को भी उठा देते। रमाबाई कोई पुस्तक लेकर श्लोक तथा पदादि पढ़ने लगतीं। रमाबाई लिखती हैं—"आप कभी कभी गद्गद होकर चुटकी या ताली बजाने लगते। प्रात:काल के उजाले में, आपका भक्तिपूर्ण मुख बहुत ही मनोहर मालूम होता और आपके प्रति आप ही आप प्रेम और पूज्य बुद्धि उत्पन्न होती। मेरे मन में आता कि मैं अपने संबंध और सांसारिक दृष्टि ही से यह सब देख रही हूँ तो भी यहाँ सामर्थ्य और दैवी भाग अधिक है, परंतु मेरे ये विचार अधिक समय तक न ठहरते। इस विषय में आपसे पूछने के लिये मैं सिर उठाती पर ज्योंही आपसे मेरी दृष्टि मिलती त्योंही मेरे सारे विचार बालू की भीत के समान ढह जाते।"

यह तो नित्य की बात थी। ताली और चुटकी बजाकर तुकाराम के अभंगों का भजन करते करते कभी मुँह का उच्चारण बंद हो जाता, आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगती, यह भी ध्यान न रहता कि भजन के दोनों चरणों की तुक भी मिलती है या नहीं। जिस समय मन की स्थिति जैसी होती उस समय वे वैसे ही अभंग कहते। रमाबाई लिखती हैं—"मैं कभी कभी कहती—'इन नवीन अभंगों की एक पुस्तक बनानी चाहिए। कल्याण शिष्य की तरह मैं भी ये सब अभंग लिख डालूँ तो अच्छा हो।' इस पर उत्तर मिलता—'हम

भोले आदमी ठहरे। यमक और ताल सुर का न तो हमें ज्ञान है और न उसकी आवश्यकता ही है। जिससे हम यह सब कहते हैं वह सब समझता है। उसका ध्यान इन सब ऊपरी बातों की ओर नहीं जाता।" रानडे की इस समय की अवस्था देखकर बड़े बड़े लोग गद्गद हो जाते थे। गोखले कहते हैं—"१८६७ की अमरावती कांग्रेस से लौटते हुए रेल के कमरे में केवल रानडे और मैं था। ४ बजे प्रातःकाल गाने की आवाज सुनकर यकायक मेरी नींद खुली। मैंने देखा कि रानडे उठकर बैठे हैं और तुकाराम के दो अभंगों को ताली बजा बजाकर बार बार गा रहे हैं। गला तो अच्छा था नहीं परंतु जिस प्रेम से वे गा रहे थे, वह इतना अधिक था कि मैं भी गद्गद हो गया जिससे मुझे भी उठकर बैठ जाना पड़ा। जो अभंग वे गा रहे थे वे ये थे—

जे कां रंजले गाँजले। त्यासी ह्मणे जो आपुले।*
तोचि साधू ओळखावा। देव तेथेंचि जाणावा।
करि मस्तक ठेंगणा। लागें संतांच्या चरणा।
जरि ह्वावा तुज देव। तरि हा सुलभ उपाय।

---

* १ जो दीन दुखियों को अपनाता है,
२ उसी को साधु समझना चाहिए। भगवान् का निवास उसी व्यक्ति में है।
३ अहंकार त्यागकर संतों की शरण में जा।
४ यदि तू ईश्वर को चाहता है तो उसका यही सरल उपाय है।

"जब मैं बैठा हुआ इन भजनों को सुन रहा था, मेरा मन रानडे के जीवन की ओर गया। मैंने सोचा कि जो उपदेश इन भजनों में है उस पर चलने की रानडे किस प्रकार निरंतर चेष्टा करते हैं और इस उपदेश से कितनी साधारण और फिर भी कितनी उच्च शिक्षा जीवन के नियम संबंधी मिलती है। मेरे जीवन में यह अनमोल क्षण था। वह दृश्य मेरी स्मृति से कभी दूर नहीं होगा।"

प्रार्थना-समाज में आप कभी कभी उपासना कराते थे। रमाबाई लिखती हैं—"आपकी उपासना इतनी गंभीर, भावपूर्ण और प्रेममयी होती थी कि सुननेवाला उसे सुनकर धन्य धन्य कह उठता था। उतनी देर के लिये शरीर की सुधि भूलकर ऐसा मालूम होता था मानो आप प्रत्यक्ष देवता से बोल रहे हैं और वह सब बातें सुन रहा है। कभी कभी शांत और भक्तिपूर्ण भाव के कारण आपके मुख पर इतना तेज आ जाता था कि मैं कई मिनटों तक पागलों की तरह टकटकी लगाकर आपके मुख की ओर देखती रह जाती थी। कभी कभी यह विचार कर कि देखनेवाले लोग क्या कहेंगे, थोड़ी देर के लिये दृष्टि नीचे हो जाती, परंतु फिर तुरंत आप ही आप वह अपने पूर्व कृत्य में लग जाती।" ये एक सच्ची स्त्री के सच्चे वाक्य हैं। पतिव्रता रमाबाई आगे लिखती हैं—"अब तक इस पूर्ण निराशा की अवस्था में (रानडे की मृत्यु के उपरांत) भी जब कभी वह समय और सुख याद आ जाता है, तब

अपनी वर्त्तमान दीनावस्था भूलकर उसी समय का प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है और क्षण भर आनंद मिल जाता है, बहुत देर तक उसी मूर्ति का ध्यान और चिंतन होता रहता है और यदि किसी कारणवश उसमें कभी विघ्न हो जाय तो उस दिन मन को चैन नहीं मिलता।"

उपासना आप प्रायः मराठी भाषा में कराया करते थे। आप सर्वदा चेष्टा करते थे कि भाषा सरल हो और भाव सबके समझने योग्य हों। उपासना के बाद कभी कभी वे रमाबाई से पूछते कि आज तुमने क्या समझा। यदि उस दिन का विषय गूढ़ होता और वे न समझतीं तो कह देतीं। तब आप कहते "आज की उपासना ठीक नहीं हुई, हमने यह समझ रखा है कि जो उपासना तुम्हारी समझ में आ जाय वही अच्छी हुई और जिसे तुम न समझ सको वह दुर्बोध हुई।"

इन उपासनाओं में प्रायः आप तुकाराम, नामदेव इत्यादि का कोई पद ले लेते थे और उसकी व्याख्या करते थे। बहुत अच्छा हो यदि वर्तमान सुधार-सभाओं के हिंदी भाषाभाषी नेता भी सूर और तुलसी, कबीर और नानक के पदों के आश्रय पर अपने भक्ति-पूर्ण विचार प्रकट किया करें। यदि ऐसा हो तो उनकी उपासनाएँ ऐसी नीरस न हुआ करें जैसी वे बहुधा होती हैं। तुकाराम ने कहा है—"मेरी मृत्यु को मौत आ गई और इससे मैं अमर हो गया।" एक दिन का आपका विषय यही था। मृत्यु क्या है, आपने उसमें कहा था—"एक मृत्यु

वह है जिसमें हम मर जाते हैं और एक वह जिसमें मृत्यु तो मर जाती है और हम जीवित रहते हैं। वह संत जो ईश्वर आराधना अथवा उपदेश करने में अपने शारीरिक अस्तित्व को भूल जाता है और जिसकी आत्मा तेजोमयी हो जाती है; वह विद्यानुरागी जो अध्ययन में अपने को भूल जाता है और जो कुछ वह अनुभव करता है वह केवल उस विषय की स्थिति और उत्तेजना है जिस पर वह मनन करता है; वह पुरुष जो किसी महान् कार्य के करने पर कटिबद्ध होता है और शारीरिक वेदनाओं के मध्य में भी अपने कष्ट को भूलकर कर्त्तव्य-पालन करता चलता है और सर्वदा उसको अपने काम की ही धुन रहती है, ऐसे लोगों में मृत्यु ही मरती है परंतु वे जीवित रहते हैं। यह साधारण विश्वास कि शरीर छूट जाने को ही मृत्यु कहते हैं, मौत का सच्चा ख्याल नहीं है। हमारी मौत उसी क्षण आ जाती है जब हम हर समय शरीर और उसकी वासनाओं पर ध्यान रखने और नीच स्वार्थी जीवन निर्वाह करने लगते हैं।"

ईश्वर-भक्ति बड़ी कठिन है। केवल शब्दों में ईश्वर को मानने से कोई पुरुष आस्तिक नहीं कहा जा सकता। भक्ति का प्रादुर्भाव मनुष्य-जीवन में होना चाहिए। परंतु भक्ति-रस में रँगे हुए वे महात्मा भी हैं जो ईश्वर पर तो दृढ़ और सच्चा विश्वास रखते हैं पर मनुष्य-समाज का वे विश्वास नहीं करते। हर एक युग में ऐसे सिद्ध पुरुष होते हैं जिनका जीवन

तो पवित्र होता है परंतु जिन्हें संसार की कमजोरियों के कारण दु:ख होता है। इसलिये वे सबसे अलग होकर विरक्त हो जाते हैं। उन्हें संसार मिथ्या मालूम होता है और वे उससे बचने का प्रयत्न करते हैं। मनुष्य-समाज से वे दूर रहते हैं और उन्हें सामाजिक व्यवहारों में कुछ अनुराग नहीं रहता। परंतु रानडे की मानसिक वृत्ति इस प्रकार की नहीं थी। प्रार्थना-समाज की एक उपासना में उन्होंने एक बेर कहा था—"कुछ लोगों का विश्वास है कि इस जीवन से पूर्व कोई जीवन नहीं था और इस जीवन के अनंतर भी कोई जीवन नहीं है। कुछ लोग यह कहते हैं कि संसार में यदि कोई बात अनादि है तो वह यह है कि हमारे पश्चात् हमारे वंशज मनुष्य संसार में रहेंगे, इसके अतिरिक्त कोई अनाशवान् जीवन नहीं है। दोनों में से कोई सिद्धांत भी संतोषजनक नहीं है। जब हम भोजन माँगते हैं, दोनों हमें पाषाण देते हैं। हमें संतोष एक तीसरे ही सिद्धांत से मिलना चाहिए अर्थात् यहाँ अथवा आनेवाले जीवन में हमारे भाग में सुख ही सुख है परंतु यह तभी हो सकता है जब हम अपने को अनाशवान् प्रकृति के मनुष्य मानकर कार्य करें।" आगे चलकर उन्होंने उदाहरण-स्वरूप अपने विश्वास को इस प्रकार स्पष्ट किया—"अभी थोड़े दिन हुए, मैं भारत के उत्तरीय भाग में था। गंगाजी के तट पर खड़ा हुआ नदी के गौरवान्वित बहाव को देखकर मानो समाधि की अवस्था में आ गया। मैं इतना गद्गद हो गया,

मेरा हृदय इतना प्रफुल्लित हो गया कि विवश मेरे मुँह से यह निकला—धन्य है यह भारतभूमि।" उसी समय मेरे चित्त में यह विचार आया—'क्या गंगा अनादि है? किसी दिन यह भी लुप्त हो जाय।' मैंने मन ही मन इस प्रकार की तर्कना की—"नहीं, हमारे सामने के जल के परमाणु एक दूसरे से अलग हो जायँ और नाश हो जायँ परंतु बहाव इसी प्रकार रहेगा जिस प्रकार गत अनेक शताब्दियों से चला आया है। हमारे लिए कितनी बड़ी यह शिक्षा है। हम व्यक्तिगत समाज के परमाणु हैं और अवश्य लुप्त हो जायँगे परंतु समाज रहेगा, इसका बहाव श्रीगंगाजी की तरह अनादि है। हमारा, जो प्रत्येक पीढ़ी के व्यक्तिगण हैं, यह धर्म है कि इस बहाव के गौरवान्वित करने में भाग लें।"

पितृ-भक्ति और वृद्ध-सम्मान

रानडे की माता का देहांत उनकी बाल्यावस्था में ही हो गया था। उनके पिता उनकी ३५ वर्ष की अवस्था तक जीवित थे। ज्यों ज्यों उनकी अवस्था बढ़ती जाती, वे उनका अधिक आदर करते थे। सब-जज होने पर भी पहले की नाईं पिता को देखकर वे खड़े हो जाते थे। यथासाध्य उनकी बात कभी नहीं काटते थे। जब तक वे जीते रहे, उन्हीं को घर का मालिक समझते रहे। उनके पिता २५०) मासिक पाते थे, परंतु तीन सगे और दो रिश्ते के भाइयों के परिवार का पालन-पोषण, विवाहादि का सब व्यय वे ही करते थे, इसलिये

वे ऋणी हो गए थे। रानडे सदराला होते ही उनको १५०) मासिक भेजने लगे। इसी समय रानडे ने एक मकान खरीदा। इनके कुटुंब में यह पहली जायदाद थी। इसलिये इनके पिता बहुत प्रसन्न हुए। बैनामे का मसविदा इनके पिता ने तैयार कराया और रानडे के पास देखने के लिये भेज दिया। आपने उस पर पेंसिल से लिख दिया—"मसविदा ठीक है परंतु मेरी इच्छा है कि बैनामे में मेरे स्थान पर आपका नाम रहे।" उनके पिता ने बहुत समझाया, कहा—"जगदंबा की कृपा से तुम्हीं ने हमारे कुल में यह स्थावर संपत्ति पहले-पहल प्राप्त की है, इसलिये इसमें तुम्हारा ही नाम रहेगा।" रानडे ने कहा—"मैंने इस पर बहुत विचार किया है। आपके नाम से खरीद होने में अधिक शोभा है।" अंत में उनके पिता ने मकान अपने ही नाम खरीदा।

पिता के रोगग्रस्त होने पर आप उनकी बड़ी सेवा करते। मृत्यु के दो वर्ष पहले से वे कोल्हापुर में रहते थे। इस बीच में वे कई बेर बीमार हुए। रानडे ने एक बेर एक महीने की छुट्टी लेकर उनकी सेवा-शुश्रूषा की। कुछ महीनों के बाद जब वे बहुत बीमार पड़े तब रानडे ने फिर दो महीने की छुट्टी ली। इस बेर उनके पिता की अवस्था बहुत खराब थी। छुट्टी बढ़वाने के लिये उन्हें पूना, जो उन दिनों टाँगे से ३६ घंटे का रास्ता था, जाना आवश्यक था। जब वे पूना जाने लगे

तब उनके पिता बच्चों के समान रोने लगे। परंतु डाक्टरों के आश्वासन देने पर उन्होंने इनको जाने दिया। चलते समय उन्होंने इनका हाथ अपने हाथ में लेकर कहा—"यद्यपि डाक्टर साहब ने मुझे आशा दिलाई है तो भी मुझे अपने जीवन का अब भरोसा नहीं है, इसलिये शीघ्र लौट आना, नहीं तो भेंट न होगी। अब गृहस्थी का सारा भार तुम्हीं पर है।"

रानडे का उत्तर भारत-संतान के लिये अनुकरणीय है। उन्होंने कहा—"आप किसी प्रकार की चिंता न करें। मैं कभी पुत्रधर्म न छोड़ूँगा।"

इस वचन को उन्होंने सारी उम्र निबाहा। यद्यपि वे पिता की मृत्यु के समय न पहुँच सके पर गृहस्थी का भार अपने ऊपर लेकर उन्होंने सुधार के कार्य में कठिनाइयाँ उपस्थित कर लीं। उन्होंने अपने पिता का कई हजार का ऋण देकर सौतेली माँ, अपनी बहिन और भाइयों को बुलवा भेजा और सबको वे साथ रखने लगे। सौतेली माता का भी वे उतना ही आदर करते जितना अपनी जननी का करना चाहिए। छोटी बहिन दुर्गा तक की बात कभी नहीं काटते थे। घर में कभी कोई बात ऐसी न करते जिससे घरवालों को यह मालूम हो कि वे घर के बड़े हैं और उन्हीं के कारण गृहस्थी चलती है। यदि मत-भेद की कोई बात हो तो उस पर बहस नहीं करते थे। अपना कर्त्तव्य अपने सिद्धांतों के अनुकूल पालन करने की चेष्टा किया करते थे। रमाबाई को भी

उसी प्रकार करने का परामर्श किया करते परंतु किसी पर औरंगजेबी नहीं चलाते थे। पितृ-भक्ति और मातृ-भक्ति के कारण कई बेर कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती थीं जिनके दो एक उदाहरण नीचे लिखे जाते हैं—

दक्षिण में पंडित विष्णु शास्त्री पुनर्विवाह के समर्थक थे। उन्होंने स्वयं अपना विवाह विधवा से किया था। उसी समय वे रानडे से मिलने आए। रानडे ने उनको सायंकाल भोजन करने के लिये निमंत्रित किया। कचहरी जाने से पहले वे अपनी बहिन से भोजनादि का प्रबंध करने के लिये कह गए। उन दिनों उनके पिता जीवित थे। १२ बजे तक वे संध्या, ब्रह्मयज्ञ, जप, स्तोत्र-पाठादि से निश्चिंत हुआ करते थे। १२ बजे के पीछे जब उनको मालूम हुआ कि विधवा-विवाह-प्रवर्त्तक उनके घर पर पदार्पण करेंगे तब उन्होंने अपनी स्त्री से कहा—'भोजन तो तुम बना देना पर परोसने न जाना।' नियत समय पर अतिथि आकर भोजन कर गए। उनके पिता जान बूझकर ११ बजे रात को आए और बिना भोजन किए ही सो गए। दूसरे दिन सबेरे ही घर गृहस्थी लेकर वे डेरा डंडा उठाने की तैयारी करने लगे। जब रानडे ने यह सब हाल सुना तब वे सबेरे ही अपने पिता के सामने जाकर चुपचाप एक खंभे से लगकर खड़े हो गए। एक घंटा इसी प्रकार हो गया परंतु दोनों में बातचीत नहीं हुई। तब उनके पिता ने उनको बैठ जाने के लिये कहा। उन्होंने उत्तर

दिया—"यदि आप यहाँ से चले जाने का विचार छोड़ दें तो मैं बैठ जाऊँ। यदि आप लोग चले जायँगे तो मेरा यहाँ कौन है? मैं भी आप लोगों के साथ ही चलूँगा। यदि मुझे मालूम होता कि कल की बात के लिये आप इतना क्रोध करेंगे तो मैं कदापि ऐसा न करता।" इस प्रकार बात-चीत हो ही रही थी कि इतने में दर्वाजे पर इन लोगों को ले जाने के लिये गाड़ी आकर खड़ी हो गई। इस पर रानडे ने दुःखी होकर कहा—"अंत में आप लोगों का जाना निश्चय हो गया। आप लोग मुझे यहाँ छोड़कर चले जायँगे। जिस दिन मेरी माता मरी उस दिन मैं अनाथ हो गया।" यह कहकर आप ऊपर चले गए। उनके पिता ने फिर सोच समझकर जाने का विचार परित्याग कर दिया।

इसी तरह एक दिन सौतेली माँ से भी क्लेश की नौबत आ गई थी। एक विद्यार्थी, जिसकी ये सहायता किया करते थे और जो दूकानदारों को सौदे इत्यादि का रुपया देने जाता था, व्यापारियों को रुपया देने के बदले आप खा गया। दश-हरे का दिन था। उनकी माँ और बहिन ने सोचा था कि यह बात उनसे भोजन के उपरांत कही जाय। परंतु रमाबाई ने बिना विचारे इस बात को उनसे पहले ही कह दिया। इस पर उनकी बहिन रमाबाई पर बहुत बिगड़ीं और उनकी माँ ने कहा—"अब तक तो इसको चुगली की आदत नहीं थी, नित्य नया गुण निकलता आता है। सभा में यह जाय, अँगरेजी

यह पढ़े, घर में आने जानेवाले लोग इसे अच्छे न लगें, मेम बनकर कुर्सी पर बैठी रहे। दिन पर दिन घर की मालकिन बनी जाती है, परंतु जब तक हम हैं तब तक इसकी तो न चलने देंगे। इस तरह चुगली होने लगी तो घर के लोगों का ठिकाना कहाँ। विद्यार्थी ने चोरी की तो हमारा नुकसान हुआ। क्या इसके बाप को डाँड़ भरना पड़ता है ?"

रानडे ने अंतिम बात सुनकर कहा—"वह हमसे न कहती तो किससे कहती ?"

इस पर उनकी सौतेली माँ ने बिगड़कर कहा—"घर-वाली को बैठाकर उसकी पूजा तुम्हीं करो, तुम समझते होगे कि अँगरेजी पढ़कर हम लायक हुए हैं, परंतु यह कोई लियाकत नहीं है। अगर हम लोग अच्छे न लगते हों तो घरवाली का पक्ष लेकर हमारा अपमान मत करो, सीधी तरह से कह दो, हम घर से चली जायँ।"

इस समय रानडे को भी क्रोध आ गया। उनके मुँह से निकल ही तो गया—"तो नाहीं कौन कहता है ?"

परंतु थोड़ी ही देर में वे पछताने लगे और कहने लगे—"घर में तुम्हीं बड़ी हो, जिससे जो चाहे कहो। यदि मुझसे भी किसी समय भूल हो जाय तो तुम मेरा कान पकड़ सकती हो। तुम चाहे जो कहो, इतना ज़रूर जाँच लो कि असल बात क्या है। असावधानी से मेरे मुँह से जो बात निकल गई उसके लिये मैं तुमसे क्षमा माँगता हूँ।"

क्षमा माँगने पर इनकी माँ तो शांत हो गई परंतु इनको अपने शब्दों पर बहुत दिनों तक दुःख रहा, यहाँ तक कि एक पत्र उन्होंने अपने भाई और बहिन को लिखा जिसमें अपनी इस भूल का जिक्र किया।

माता-पिता के अतिरिक्त घर के सब वृद्ध लोगों का आप यथोचित समादर करते थे। अपने चाचा विट्ठल काका को, जिन्होंने रानडे को तीन वर्ष की अवस्था में बैलगाड़ी से गिर जाने पर उठाया था, उनकी वृद्धावस्था में उन्होंने अपने यहाँ रखा। विट्ठल काका ने १५ वर्ष में पैदल सारे भारतवर्ष के तीर्थों में पर्यटन किया था। वे मिजाज के बड़े कड़े थे। भक्ति-मार्ग में इनका मन बहुत लगता था। वे अपनी कोठरी में सदा बैठे रहते और केवल स्नान और भोजन के लिये बाहर आते। कोठरी में बैठे बैठे कभी रोने लगते, कभी चिल्लाते। क्रोध में आकर भगवान् से कहते—"तुम दयालु तो हो पर मिलते क्यों नहीं।" कभी रोते रोते हिचकी बँध जाती। इनकी भक्ति की बातें लोग कोठरी के बाहर खड़े होकर सुना करते। कभी कभी सुननेवालों की आँखों में भी आँसू आ जाते। रानडे इन पर बड़ी श्रद्धा रखते थे।

विद्याभिरुचि और परिश्रम

रानडे को पुस्तकें बड़ी प्यारी थीं। नामदेव के पदों की पुस्तक को तो आप बड़ी अवस्था में भी उठाकर आँखों से लगा लेते थे। हमारे बी० ए० के विद्यार्थी प्रायः सभी

आजकल अपने कोर्स की पुस्तकों से ही छुट्टी नहीं पाते। परिणाम यह होता है कि पुस्तकों से अनुराग बी० ए० और एम० ए० पास होने पर भी उनमें नहीं रहता।

कहा जाता है कि जब वे एलिंफस्टन कालेज के अध्यापक थे, उन्हें इतिहास पढ़ाने का काम दिया गया। इस काम को भले प्रकार करने के लिये उन्होंने धीरे धीरे कालेज के पुस्तकालय की प्रायः सब इतिहास की पुस्तकें पढ़ डालीं। इससे ये अपने छात्रों को खोज की हुई नई बातें बतलाने लगे, यहाँ तक कि कभी कभी इनके प्रिंसिपल मि० चटफील्ड इनकी पढ़ाई देखने आते। इनकी आँखों में हमेशा थोड़ी बहुत तकलीफ रहती। जब तकलीफ बढ़ जाती तब दूसरे लोग पुस्तकें पढ़कर सुनाते। पर पढ़ना बराबर जारी रहता। स्वाध्याय उनका नियमबद्ध होता। जिस पुस्तक को एक बेर पढ़कर वे उपयोगी समझते उसका सारांश लिख डालते। इस सारांश को वे बहुत सुरक्षित रखते। इस आदत को उन्होंने कभी नहीं छोड़ा। उनकी स्मरण शक्ति तो अच्छी थी ही उस पर लिख डालने से सिद्ध लेखकों के ग्रंथों के विचार उनको सदा के लिये याद हो जाते। ग्रंथ भी वे उच्च श्रेणी के पढ़ते थे। इससे उनकी लेखन-शैली भी बड़ी उत्तम हो गई। कहा जाता है कि वे एलिसन का वर्त्तमान यूरोप का इतिहास अपनी छात्रावस्था में बहुत पढ़ा करते थे और उनकी लेखन-शैली पर इस पुस्तक का बड़ा प्रभाव पड़ा था।

रानडे बड़े वक्ता नहीं थे, परंतु उनके व्याख्यानों में धार्मिक ओज, तार्किक विवेचना और प्रौढ़ विचार होते थे जिनको सुनने से मालूम होता था कि इन्होंने पढ़ा बहुत है और व्याख्यान तैयार करने में परिश्रम किया है। अधिक पढ़ने के कारण उनकी बातचीत में भी रस रहता था। प्रायः सब विषयों की पुस्तकें वे पढ़ा करते थे। अँगरेजी और मराठी साहित्य, इतिहास, दर्शनशास्त्र, अर्थशास्त्र और राजनीति से उनको विशेष अनुराग था। इसके अतिरिक्त अँगरेजी और मराठी पत्र और पत्रिकाएँ भी वे बराबर पढ़ा करते। १८६६ की लखनऊ कांग्रेस के समय एडवोकेट लाइब्रेरी की स्थापना की गई थी। उस समय आपने अपने व्याख्यान में बतलाया था कि समाचार-पत्र बहुत नहीं पढ़ने चाहिएँ। लंडन के साप्ताहिक पत्र "सैटर्डे रिव्यू" की आपने बड़ी प्रशंसा की थी और कहा था कि मैं उसको सदा उत्साह के साथ पढ़ता हूँ।

रानडे के पढ़ने-लिखने के समय कोई चला जाता तो वे खिन्न नहीं होते थे। कभी कभी तो उनको पता भी नहीं लगता था कि कौन आया। यदि उनके चारों तरफ बच्चे शोर मचाते अथवा लोग बातचीत करते तो भी वे अपना काम जारी रखते। उनके पास हर समय विशेषकर छुट्टी-वाले दिन हर प्रकार के लोग आते-जाते रहते थे। कभी किसी से मिलने से वे इनकार नहीं करते थे। यदि कोई विचारवान् पुरुष आता तो वे उससे भिन्न भिन्न विषयों पर बातचीत करते,

परंतु कभी कभी ऐसे लोग भी पहुँच जाते जिनके मिलने से समय नष्ट होता और जो जल्दी जाने का नाम नहीं लेते। हमारे देश में तो यह साधारण बात है। काम हो या न हो, जो जब चाहता है मिलने चला आता है। आनेवाला अपना सुभीता देखता है, जिससे मिलना चाहता है उसके काम-काज अथवा आराम का कुछ ध्यान भी नहीं; जब तक जी चाहता है, बैठता है। पहले से समय निश्चय करके मिलना हमारे यहाँ अमीरी आदत समझते हैं। केवल राजा महाराजाओं के साथ ऐसा किया जाता है। साधारण स्थिति के पुरुषों के यहाँ—चाहे वे विद्वत्ता, देशहितैषिता आदि गुणों के कारण असाधारण योग्यता के पुरुष हों—मिलने जाने से पहले पत्र लिखना लोग उचित नहीं समझते। यह इसी का परिणाम है कि हमारे देशोपकारक लोग सदा विक्षिप्त से रहते हैं। उनकी शारीरिक अवस्था हीन रहती है और उनमें से अधिकांश असामयिक मृत्यु को प्राप्त होते हैं। इस देश में विद्वत्ता और देशहितैषिता का मूल्य अपना जीवन है। सोकर उठे और मिलनेवालों ने आना शुरू कर दिया। जब लोग सिर पर सवार रहते हैं तब वे बेचारे अपना स्नान, भोजनादि का काम झटपट समाप्त कर तैयार हो जाते हैं। यदि किसी से कह दें कि इस समय अवकाश नहीं है, बस वह बुरा मान जाय, उनको अभिमानी समझने लगे, एक दोष से अनेक दोष लगने लगें।

यदि रानडे केवल हाईकोर्ट के जज होते तो उनसे कोई मिलने न जाता; यदि कोई जाता भी तो दर्वाजे पर चपरासी नाम-धाम पूछकर उसकी इत्तिला करता। पर रानडे के जीवन के कार्य में हाईकोर्ट की जजी का स्थान पहला नहीं था। इसलिये उनके घर पर बड़े सबेरे से लेकर रात को सोने के समय तक मिलनेवालों के लिये दर्वाजा खुला रहता परंतु रानडे का अपना काम जारी रहता। कभी कभी एक ही समय में भीड़ लग जाती। पर जैसे लोग आते जाते उनसे वैसी ही बातें होतीं। जो लोग जिस योग्यता के होते उनसे वैसे ही मान मर्यादा के साथ वे मिलते। साधारण लोगों से भी उनकी जाति गाँव इत्यादि का हाल पूछकर कुछ सुधार की सलाह देते, कोई नई संस्था स्थापित करने के लिये कहते। उनका कुछ प्रभाव भी ऐसा पड़ता था कि जिनको वे सलाह देते उनमें से अनेक बतलाए हुए काम पर लग भी जाते। रमाबाई लिखती हैं कि लोगों के चले जाने पर कभी कभी मैं पूछती—"आज किन किन लोगों पर कौन कौन काम लादे गए?"

यदि किसी मिलनेवाले से उनका समय नष्ट होने लगता तो उसको वे कोई काम करने को दे देते। सामने से कोई पुस्तक उसके योग्यतानुसार उठाकर उसको दे देते और कहते कि अमुक अध्याय का कृपा कर सारांश लिख दीजिए अथवा मनुष्य-गणना की रिपोर्ट से विवाहित, अविवाहित स्त्री-पुरुषों

की संख्या इत्यादि निकालने की प्रार्थना करते। उनके कहने पर लोग उस समय काम करने लगते, पर फिर कभी उनके यहाँ न जाते। दो एक यदि इस काम को ठीक ठीक कर देते तो वे उनकी प्रशंसा के पात्र बन जाते। टहलने जाने के समय कोई आ जाता तो उसको साथ ले जाते। कभी कभी उनके साथ मिलनेवालों की भीड़ भी चलती परंतु उनके तेज चलने के सबब से बहुत से लोग उनका साथ नहीं दे सकते थे, इसलिये वे टहलने का समय बचाकर आते थे। टहलते समय भी वे अपने विचार में निमग्न रहते थे। कभी कभी मालूम होता था कि शरीर तो चल रहा है पर उनका मन अंतरात्मा से बातें कर रहा है। कोई बात छेड़ देते—"गुरु रामदास ने कहा है कि महाराष्ट्र धर्म की रक्षा करो। यह महाराष्ट्र धर्म अन्य हिंदुओं के धर्म से किस अंश में विपरीत है? इससे गुरु रामदास का क्या अभिप्राय था? क्या आप लोगों ने इस पर सोचा है?" किसी मित्र ने कहा—"नहीं, हमने तो नहीं सोचा। हम आपका विचार जानना चाहते हैं।" इस पर रानडे ऐसे विचार-सागर में डूब जाते कि लोग उनका मुख देखते चलते और शांत रहते। इस प्रश्न का उत्तर उन्होंने अपने 'महाराष्ट्र अभ्युदय के इतिहास' में दिया है।

सर नारायण चंदावरकर लिखते हैं कि एक बार मैं उनके साथ टहलने निकला तो अनेक विषयों पर बातें हुईं। उन्हीं

दिनों समाचार-पत्रों में बाढ़ से कई गाँवों के नाश हो जाने का समाचार छपा था। रानडे ने पूछा—"ईश्वर न्यायकारी है, इस सिद्धांत से हम ऐसी घटनाओं का क्या उत्तर दे सकते हैं? इन घटनाओं के द्वारा परमेश्वर उपकार की इच्छा का क्या परिचय देता है?" इस प्रकार प्रश्न करके वे चुप हो गए और सोच में पड़ गए। घर लौटने तक वे कुछ न बोले। इस प्रश्न का उत्तर उन्होंने एक मित्र को इस प्रकार दिया था—"पूना स्टेशन से पूर्ववाले पुल पर खड़े होकर देखने से इतनी रेल की लाइनें दिखलाई देती हैं और एक लाइन दूसरी लाइन पर से इस तरह चली गई है कि पता ही नहीं लगता कि किस लाइन पर जाने से रेल ठीक स्थान पर पहुँचेगी। हम समझते हैं कि झंडी दिखानेवाला भी घबरा जाता होगा कि किस गाड़ी को किस लाइन पर भेजें। परंतु वास्तव में यह बात नहीं है। क्योंकि झंडीवाला जब जाल के समान लाइनों को अच्छी तरह समझ लेता है तब वह बिना भूल किए गाड़ियों को ठीक वही पथ दिखलाता है जहाँ उन्हें जाना है। उसी प्रकार यदि हम इस सांसारिक प्रक्रिया के प्रत्येक अंग को समझ सकें तो हमें मालूम हो कि संसार के एक भाग में दुर्घटनाओं का होना संपूर्ण संसार के उपकार के विरुद्ध नहीं है और विश्वव्यापी नियमों के उद्घाटन में ऐसी घटनाओं का होना आवश्यक है जिन्हें हम भूलकर विपद् मान लेते हैं, मानो ये सब परमेश्वर की इच्छा के प्रतिकूल हैं।"

इन उदाहरणों से रानडे की एकाग्रचित्तता का परिचय मिलता है। बहुत से लोग गुल-गपाड़े में बिलकुल लिख पढ़ नहीं सकते। रानडे ऐसी अवस्था में लिखने पढ़ने के अतिरिक्त सोच भी सकते थे। पर ऐसा मस्तिष्क ईश्वरीय देन है। तिस पर भी मिलनेवालों की भीड़ और शोर-गुल के बीच काम करने का प्रभाव उनके मन और शरीर पर पड़ता ही था जिसके कारण उनका स्वास्थ्य बिगड़ने लगता। उनका शरीर बलवान् था पर वे कई बेर इन्हीं असुविधाओं के कारण बहुत बीमार हुए। वे चाहते तो ये असुविधाएँ दूर हो सकती थीं।

रानडे का समय कभी नष्ट न जाता। वे सदा किसी न किसी काम में लगे रहते। काम करने का उन्हें एक प्रकार का नशा सा था। एक मित्र ने उनकी प्रशंसा में कहा कि "आपको सदा परिश्रम करने की बान पड़ गई है।" उन्होंने उस पर हँसते हुए कहा—" 'बान' तक तो ठीक था, अब तो यह असाध्य रोग लग गया है।"

प्रातःकाल चार बजे से पहले आप उठ जाते थे और उठते ही तुकाराम के अभंगों को गाने लगते। फिर संस्कृत के कुछ श्लोक, स्तोत्र आदि पढ़कर नित्य कर्म से निवृत्त हो, छः बजे अपना कार्य आरंभ कर देते। दौरे के दिनों में इसी समय चल देते और आठ नौ बजे तक दूसरे पड़ाव पर पहुँच जाते। जब काम शुरू होता तब पहले दैनिक पत्रों के तार पढ़ते और डाक देखते। फिर लिखना शुरू करते और सिर

नीचा किए बराबर लिखते चलते, कभी कभी विश्राम के लिये सिर ऊपर कर लेते या एकाध श्लोक या पद कहकर फिर काम में लग जाते। इसी बीच में रमाबाई आज्ञानुसार पत्रों का उत्तर लिख रखतीं, उनको सुनकर अपने हस्ताक्षर कर देते। फिर भोजनोपरांत कचहरी जाते। ११ से ५ तक वहाँ रहते। बीच में थोड़ी देर के लिये जलपान करने उठते। कचहरी से पैदल घर आते। घर आकर फिर डाक देखते। चिट्ठियों के उत्तर जहाँ तक बन पड़ता उसी दिन देते। प्राय: प्रत्येक प्रांत से उनके पास पत्र जाते थे। कभी कभी दैनिक पत्रों की संख्या एक सौ तक पहुँच जाती। परंतु उत्तर देने लायक जितने पत्र होते थे उनके उत्तर अवश्य जाते थे।

भोजन के पश्चात् रात को बालकों की पढ़ाई की पूछ-ताछ करते, घर के बड़े बूढ़े से बातचीत करते और तब पढ़ना आरंभ करते। स्वयं न पढ़ सकते तो दूसरा कोई पढ़ सुनाता। पढ़ते ही पढ़ते साढ़े दस या ग्यारह बजे सो जाते। उनकी विद्याभिरुचि और परिश्रम के दो एक उदाहरण यहाँ और लिख देने उचित हैं। जब आप फिनैंस कमेटी के सभासद थे तब कमेटी के कार्य पर रमाबाई को साथ लेकर कलकत्ते गए। वहाँ धर्मतल्ला पर एक बड़ा बँगला किराए पर लिया। यहाँ एक बँगला समाचार-पत्र बेचनेवाले ने आकर रमाबाई से पूछा—"पत्र लीजिएगा?" रमाबाई ने कहा—"नहीं, हम लोग तो बंग भाषा जानते ही नहीं, व्यर्थ पत्र क्यों लें?"

रमाबाई की बात पर ध्यान न देकर उसने रानडे से जाकर पूछा। उन्होंने कहा—"आज का पत्र दे जाओ। कल से मत लाना। इसके बाद सोमवार को दे जाना। उसी दिन से रोज लेंगे।" उसके चले जाने पर रमाबाई से कहा—"जिस स्थान पर दो चार महीने के लिये आए हैं वहाँ के लोगों से हमें यह कहते संकोच मालूम होता है कि हम तुम्हारी भाषा नहीं जानते।" रमाबाई ने कहा—"किसी दूसरी भाषा न जानने की बात कहने में संकोच ही काहे का? यदि उसके सीखने की इच्छा भी हो तो वह क्योंकर पूर्ण हो सकती है? अच्छा, मैं तैयार हूँ। कल से आप ही मुझे बँगला सिखलाइए। परंतु आपके अतिरिक्त मैं किसी दूसरे से न सीखूँगी। रानडे मौन हो गए।"

दूसरे दिन जब आप टहलने गए तब दस पंद्रह बँगला और अँगरेजी की पुस्तकें खरीद लाए और एक स्लेट पेंसल मँगा ली; भोजन कर बस एक पुस्तक उठा ली। सब काम छोड़ उस दिन बँगला ही सीखते रह गए। दूसरे दिन दोपहर को बँगला पुस्तक हाथ में लेकर हजामत बनवाने बैठे। पढ़ते पढ़ते जब रुकते तब हज्जाम से पूछ लेते। रमाबाई लिखती हैं—"उस समय मैं अंदर थी। मैंने समझा, किसी मिलनेवाले से बात कर रहे हैं परंतु सामने आकर देखा आप पुस्तक पढ़ रहे हैं और हज्जाम शब्दों का उच्चारण और अर्थ बतला रहा है। मुझसे हँसी न रुकी। उसके चले जाने पर मैंने कहा—

'मास्टर तो बहुत अच्छा मिला। श्रीदत्तात्रेय ने जिस प्रकार चैाबीस गुरु किए थे, उसी प्रकार यदि मुझसे आपके गुरुओं की सूची बनाने के लिये कहा जाय तो मैं इस हज्जाम का नाम सबसे ऊपर लिखूँगी। पहले तो शिष्य गुरु की सेवा करते थे; अब उलटे बेचारे गुरु को शिष्य की सेवा करनी पड़ती है'।" इस प्रकार रानडे ने बँगला सीखी श्रैार रमाबाई को सिखलाई। कलकत्ते से रवाना होने के पहले उन्हें समाचार-पत्र श्रैार पुस्तक पढ़ने का भी अभ्यास हो गया। चलते समय विषवृक्ष, दुर्गेश-नंदिनी, आनंदमठ आदि कई पुस्तकें साथ भी ले लीं।

कलकत्ते के बँगले में पहले पहल जब रानडे जाकर ठहरे तब रमाबाई ने कहा—"यहाँ तो उजाड़ है, न बाग है न बगीचा।" रानडे ने शांतिपूर्वक कहा—"कहीं केवल बाग बगीचों श्रैार पेड़ों से भी मनोरंजन होता है। जिसके पास वाचन के ऐसा साधन है, उसे इन सब बातों की चिंता न करनी चाहिए। वाचन के समान आनंद श्रैार समाधान देनेवाली श्रैार कोई चीज नहीं है। एक विषय की पुस्तक से तबियत उकता जाय तो दूसरे विषय की पुस्तक उठा लो। कविता छोड़कर गद्य पढ़ने लगो। यदि अधिक पढ़ने से जी उकताए तो ईश्वर-निर्मित बाग बगीचे देखने चली जाओ। तुम्हारे पास तो सभी साधन हैं। गाड़ी पर हवा खाने जाने से थके हुए मन को विश्राम मिलता है। मनुष्य-निर्मित बाग बगीचे से यदि चित्त आनंदित श्रैार प्रफुल्लित होता है तो ईश्वर-निर्मित

सृष्टि-सौंदर्य का मनन करने और उसके द्वारा प्राणिमात्र को मिलनेवाले सुख का विचार करने से अंतःकरण को सद्गति प्राप्त होती है। अण्णा साहब की मृत्यु के कारण तुम्हारा मन उदास है इसलिये तुम्हारा मनोविनोद किसी प्रकार नहीं हो सकता। अच्छा, अब हम एक काम तुम्हारे सुपुर्द करते हैं। कल से तुम इस उजाड़ जगह को शोभापूर्ण बनाने का विचार ठानो।" दूसरे दिन मजदूर बुलाए गए और बाग लगाने के लिए जगह साफ की गई। कुछ तरकारियों और फूलों के बीज बो दिए गए। दो एक दिन में जब सब ठीक हो गया, कुर्सियाँ लगाकर वहाँ पढ़ाई शुरू हो गई।

इस प्रकार विद्याभ्यास और परिश्रम का उपदेश रानडे अपने जीवन से देते थे।

प्रयाग की कांग्रेस के समय विलायत से नया आया हुआ एक अँगरेज उनके पुस्तकावलोकन और स्मरणशक्ति का हाल सुनकर उनसे मिलने गया। लोगों ने समझा कि किसी राजनैतिक विषय पर गंभीर बातें होंगी पर उसने रानडे से घोड़ों की चर्चा शुरू कर दी और जितनी देर तक रहा घोड़ों के ही संबंध में बातचीत करता रहा। यद्यपि वह स्वयं बड़ा विद्वान् था परंतु रानडे की विद्वत्ता से बड़ा प्रसन्न हो गया। सन् १८९८ की कांग्रेस में वे मद्रास गए। वहाँ तंजोर पुस्तकालय में एक महाराष्ट्र मिला। उससे उन्होंने पूछा कि इस पुस्तकालय में महाराष्ट्र इतिहास की सामग्री कितनी है। उसका ध्यान

भी इधर नहीं गया था। सामयिक विषयों का ज्ञान रानडे को बहुत था। प्रत्येक प्रांत की राजनैतिक, सामाजिक अवस्था की वे खबर रखते थे। मद्रास की इसी कांग्रेस के समय स्टेशन से वे घर गए। कपड़े उतारते जाते थे और एक नवयुवक वकील से "गेंस ऑव लर्निंग बिल" पर बातचीत करते जाते थे। थोड़ी ही देर में वकील को मालूम हो गया कि रानडे मद्रास-निवासी न होने पर भी इस विषय पर बहुत अधिक जानते थे। मरने से पहले जब डाक्टर लोग उनको यह नहीं बतलाते थे कि उनको कौन रोग है तब उन्होंने चिकित्सा-शास्त्र की पुस्तकें मँगाकर पढ़ डालीं और अपना रोग बतला दिया।

सादगी और निरभिमानता

रानडे में अभिमान का लेश मात्र नहीं था। उन्हें कपड़ों की कोई परवाह नहीं थी और शान शौकत का कुछ भी ख्याल नहीं था। घर पर अच्छे से अच्छा भोजन और वस्त्र तैयार रहता। बाहर जाने के लिये गाड़ी घोड़ा भी था। रहने के लिये बँगला भी साफ सुथरा था परंतु काम पड़ने पर साधारण से साधारण भोजन से वे संतुष्ट हो जाते थे। सफर में साधारण सी कोठरी में ठहर जाते थे। मीलों पैदल चलते थे। १८९९ में, जब लखनऊ में कांग्रेस हुई थी, बंबई प्रांत में प्लेग फैला हुआ था इसलिये सरकारी आज्ञा से बंबईवाले शहर से प्रायः ७ मील पर ठहराए गए थे। इनमें रानडे भी थे। लखनऊ के प्रसिद्ध नेताओं ने कमिश्नर साहब से रानडे के शहर में रहने

के लिये विशेष आज्ञा माँग ली परंतु बहुत आग्रह करने पर भी उन्होंने बंबईवाले साथियों का साथ नहीं छोड़ा और इतनी दूर से जाने का कष्ट सहना पसंद किया।

जब रानडे के हाईकोर्ट के जज होने का समाचार पूना में पहुँचा, उनके मित्रों ने लगातार आठ दिन तक जलसों का प्रबंध किया। उन्होंने बहुत मना किया पर किसी ने उनकी न सुनी। पहले ही दिन हीराबाग में 'पान-सुपारी' के साथ आतिशबाजी छोड़ी गई। दर्याफ्त करने से मालूम हुआ कि प्रत्येक दिन एक न एक जलसा किया जायगा और अंतिम दिन स्टेशन तक बैंड बाजा जायगा। यह सब रानडे की रुचि के विरुद्ध था। वे बिना किसी को सूचना दिए ही रात के ११ बजे की गाड़ी से केवल दो बक्स साथ लेकर चल दिए। रमाबाई साथ गईं, बाकी असबाब दूसरे दिन गया।

रानडे प्राय: अपने पास पैसा नहीं रखते थे। लेन-देन का सब कार्य्य रमाबाई करती थीं परंतु खर्च का सब हिसाब उनको मालूम रहता था।

हाईकोर्ट से रानडे सायंकाल प्राय: पैदल घर आते थे। कभी कभी वे गाड़ी भी अपने साथ रखते थे। बहुत दिनों तक उनके टहलने का यही समय था।

रानडे अपने संबंध में बहुत कम बातचीत करते थे। दूसरों के गुणों की ही चर्चा अधिक रहती थी। देशहित के काम करने के लिये वे सदा तत्पर रहते थे पर किसी को साथ

ले लेते थे और यश उसी को दिलाते थे। जो लोग उनके साथ वर्षों रहे हैं उन्होंने भी उनके मुँह से कभी यह नहीं सुना कि मैंने यह किया और मैंने वह किया। गोखले ने ठीक कहा है कि रानडे के शब्द-कोष में उत्तम-पुरुष सर्वनाम एक-वचन था ही नहीं।

जो कोई उनसे किसी प्रकार की सहायता माँगने जाता उससे वे सदा मिलते। सड़क पर कोई चिट्ठी पढ़वाता, बोझ उठाने में सहायता माँगता तो वे कभी इनकार नहीं करते।

जिस संस्था में वे काम करते उसकी छोटी बातों पर वे ध्यान नहीं देते थे। उनका ध्यान सदा उसके उद्देश्यों पर रहता था। हमारे यहाँ लोग छोटी छोटी बातों पर लड़ जाते हैं। अपनी टेक रखना चाहते हैं, चाहे संस्था टूट क्यों न जाय।

रानडे को लोग समझते थे कि वे बड़े सीधे-सादे हैं, क्योंकि वे किसी पर डाँट डपट नहीं रखते थे, सबको जल्दी क्षमा कर देते थे, और हर एक का एतबार कर लेते थे। इसलिये लोग समझते थे कि उनको आदमी की पहचान नहीं थी। चंदावरकर कहते हैं कि बाईं आँख से जो वह थोड़ा बहुत देख सकते थे उससे बहुत अधिक था जो हम अपनी दोनों आँखों से देखते हैं। उनकी आँख मनुष्यों की आत्मा में घुस जाती थी और उनके दिल का पता लगा लेती थी। उनका जिससे साथ पड़ता था वे सबका हाल जानते थे परंतु उनमें निरभिमानता इतनी थी कि

सबके साथ बराबर का बर्ताव करते थे। सब समझते थे कि वे मुझसे प्रसन्न हैं और उनसे मेरा काम निकल जायगा और सच्ची बात यह है कि वे सबसे कुछ न कुछ देशहित का काम करवा ही लेते थे।

घर में भी वे कोई ऐसी बात नहीं करते थे जिससे लोग यह समझें कि अपना बड़प्पन दिखलाते हैं।

दानशीलता

रानडे दानशील थे। पूना छोड़कर जब वे हाईकोर्ट की जजी पर गए, उन्होंने २५०००) अनेक सार्वजनिक संस्थाओं को दिया था। विद्यार्थियों की सहायता वे हमेशा किया करते थे। कई विद्यार्थी उनके साथ रहते थे जिनके सिपुर्द थोड़ा बहुत घर का काम भी रहता था। अन्य प्रकार के दुखी लोग उनसे रुपया ले जाया करते थे। सब कामों में वे थोड़ा बहुत चंदा देते रहते थे।

दानशीलता असाधारण गुण है। परंतु सच्चा दानी वह है जो अपने दान के गीत नहीं गाता और जिसके यहाँ से शुभ कार्य के लिये भिक्षा माँगनेवाला खाली हाथ नहीं जाता।

रानडे ने अपना रुपया व्यर्थ कभी नहीं फेंका। देश की आवश्यकता के अनुसार वे दान करते थे।

रानडे सुधारक थे। उनका साथ देनेवाले भी बहुत थे। विवाहादि अवसरों पर इन लोगों को बड़ा कष्ट होता था। संस्कारादि कराने के लिये ब्राह्मण मिलना कठिन हो जाता था।

इस कष्ट को दूर करने के लिये वे नियमित रूप से चार ब्राह्मण अपने यहाँ रखते थे जो सुधारकों के कुटुंब में, आवश्यकता पड़ने पर, हवनादि करा आते थे। एक बेर सुधारकों के विरुद्ध विशेष आंदोलन मचा था। उस समय १००) वार्षिक पर दो ब्राह्मण और नियुक्त कर लिए गए थे।

सोशल कान्फरेंस के अधिवेशनों की रिपोर्ट वे अपने खर्चे से छपवाते थे। इसके लिये कभी उन्होंने चंदा नहीं माँगा, स्वयं छोटे छोटे छापेखानों की तलाश में वे गलियों में घूमा करते थे जिसमें रिपोर्ट छपवाने में खर्च कम पड़े।

उदारता और प्रेम

दानशील पुरुष उदार होते हैं परंतु उदारता केवल दानी होने ही में नहीं है। सच्ची उदारता का परिचय सार्वजनिक सहानुभूति और प्राणिमात्र से प्रेम करने से मिलता है। मत-भेद, स्थिति-भेद, जाति-भेद, आयु-भेद आदि रहते हुए भी एक दूसरे से प्रेमपूर्वक मिलते रहना असाधारण प्रेम का लक्षण है। दूसरे के गुणों ही पर सदा दृष्टि रखना, दूसरों की विपद में अपने को विपद-ग्रस्त पुरुष के स्थान में समझकर पूर्ण और हार्दिक सहानुभूति करना उदारता है।

इस गुण के लिये भारत के नेताओं में रानडे अपने समय में अग्रगण्य गिने जाते थे। कभी किसी ने उनके मुँह से किसी की निंदा नहीं सुनी। ईर्ष्या, द्वेष, छोटी छोटी नीच व्यक्तिगत बातों से वे सदा दूर रहते थे। एक बेर उन्होंने

कहा था—"इसकी क्या आवश्यकता है कि लोगों से कहा जाय कि वे बुरे हैं, किसी काम के नहीं, उनसे कोई अच्छा काम हो ही नहीं सकता। यदि तुम मनुष्यों को जिस जगत् में वे रहते हैं उसका तात्पर्य बतलाना चाहते हो और उनसे शुभ कार्य कराना चाहते हो तो उनमें जो छिपे हुए गुण दबे पड़े हैं उनकी सुधि दिलाकर जाग्रति पैदा करो।" इस उच्च सिद्धांत पर वे सदा चलते थे, यहाँ तक कि जो लोग उनका विरोध करते थे, जो उनको बदनाम करने या कष्ट पहुँचाने की चेष्टा करते थे उनकी भी वे कभी शिकायत नहीं करते थे। कभी उनको दुःख भी होता था तो अपनी अप्रसन्नता किसी पर प्रकट नहीं करते थे, मिलने-जुलनेवाले लोगों पर यह बात विदित नहीं होती थी। जो रात-दिन उनके साथ रहते थे उनको उनके चेहरे से थोड़ा बहुत इसका पता लग जाता था परंतु उनके शब्दों या कार्य्यों से नहीं। आँखें खराब होने के कारण अखबार उनको पढ़कर सुनाए जाते थे। जिन दिनों समाज-संशोधन के विरुद्ध आंदोलन मचा हुआ था, समाचार-पत्र अपने अपने मतानुसार उनकी निंदा और स्तुति करते थे। गोखले उनको पत्र पढ़कर सुनाया करते थे। वे कहते हैं कि स्तुति करनेवाले पत्रों को वे नहीं सुनते थे परंतु निंदा करनेवालों को सुनने की जिद करते थे। वे कहा करते थे कि संभव है, उनमें कुछ ऐसे विचार मिल जायँ जो स्वीकार करने योग्य हों। जो खंडन कठोर और दुःख पहुँचानेवाला

होता था उसको सुनकर वे यही कहा करते थे कि ऐसे दुःख को सहन करने का अभ्यास डालना भी एक तप है।

इस पुस्तक में रानडे संबंधी जो कहानियाँ दी गई हैं उनमें से अनेक उनकी उदारता का परिचय देती हैं।

जिनसे वे सहमत नहीं होते थे, आवश्यकता पड़ने पर, वे उनका भी साथ देते थे। इनके मित्र आश्चर्य करते थे कि जो पुरुष राजा राममोहन राय के ब्रह्मसमाज के सिद्धांतों को मानता हो वह कभी मंदिरों में जाकर पुराण की किसी कथा पर व्याख्यान देता और कभी आर्यसमाज में जाकर उपदेश करता।

आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानंद सरस्वती जब पूना गए थे, रानडे ने उनके व्याख्यानों का प्रबंध कर दिया था और वे स्वयं प्रतिदिन संध्या समय व्याख्यान सुनने जाया करते थे। जब उनकी बिदाई का दिन आया, लोगों ने निश्चय किया कि नगरकीर्तन का प्रबंध किया जाय। इसकी चर्चा शहर में फैल गई, अनेक प्रकार के विरोधी खड़े हो गए। कुछ लोगों ने सबेरे ही से गर्दभानंदाचार्य की सवारी निकाली। स्वामीजी की सवारी का प्रबंध रानडे के घर पर होने लगा। गर्दभानंदाचार्य की सवारी का समाचार सुनकर खूब हँसी हुई। सायंकाल स्वामीजी के व्याख्यान हो जाने पर उनको माला पहनाई गई। पालकी में वेद रखे गए और हाथी पर स्वामीजी आग्रहपूर्वक बैठाए गए। ज्यों ज्यों नगरकीर्तन आगे

बढ़ता था, विरोधियों का दल भी बढ़ता जाता था। लोग अंड बंड बकने लगे। कहीं कहीं वे दंगा फसाद करने के लिये भी उत्तेजित हो जाते थे। वर्षा होने के कारण सड़क पर कीचड़ भी बहुत था। लोग कीचड़ फेंकने लगे और आगे चलकर ईंट पत्थर भी बरसाने लगे, पर रानडे ने पुलिसवालों को बिलकुल मना कर दिया था कि वे हस्तक्षेप न करें। जब राह-चलतों पर ईंटें बरसनी शुरू हो गईं तब पुलिस ने रोका और फसादी लोग भाग गए। रानडे आरंभ से अंत तक साथ थे। जब वे घर पहुँचे, उन्होंने कपड़े बदले। लोगों ने पूछा 'सिपाही रहते भी आपके कपड़ों पर कीचड़ फेंका गया।' आपने हँसते हुए उत्तर दिया 'जब हम सबके साथ थे तब हम पर भी कीचड़ क्यों न पड़ता ? पक्षाभिमान का काम ऐसा ही होता है। उसमें इस बात की परवाह नहीं की जाती कि विरुद्ध पक्ष के लोग उच्च श्रेणी के हैं या मध्यम। ऐसे अवसर पर मानापमान का विचार हम लोगों के मन में क्यों आने लगा ? ऐसे काम इसी तरह होते हैं।'

स्वामीजी की ओर श्रद्धा और प्रेम का भाव सदा उनके चित्त में रहता था। उनकी बनाई परोपकारिणी सभा का सभासद होना भी उन्होंने स्वीकार किया था। लोग उनसे कहा करते थे कि मत-भेद होते हुए भी आप स्वामीजी का साथ क्यों देते हैं ? वे कहते, "क्या हर्ज है यदि स्वामीजी वेदों को अपौरुषेय मानते हैं, यह उनका मत है। हमें

गंभीरतापूर्वक देखना चाहिए कि इस सिद्धांत के अतिरिक्त कितने विषय हैं जिन पर हमारे और उनके सिद्धांत मिलते हैं।" १८९६ में राजा राममोहन राय पर व्याख्यान देते हुए महापुरुषों के लक्षणों के उदाहरण में उन्होंने कहा था कि महापुरुषों को संसार की साधारण बातों से भी असाधारण शिक्षा मिलती है। उनकी कल्पना शक्ति उनको बाह्य जगत् के तत्त्व की ओर ले जाती है। "हम लोग संसार की वस्तुओं से इस प्रकार परिचित हैं कि उनके अंदर के तत्त्व का अनुभव नहीं कर सकते। हम लोग एक प्रकार की मूढ़ता से आच्छादित हैं जो हमको वस्तुओं के भीतर बैठने से रोकती है। उदाहरण के लिये दयानंद सरस्वती के जीवन की उस कथा को लीजिए जिसमें उनके घर छोड़कर संन्यासी हो जाने की बात आई है, आप लोग जानते हैं वे महापुरुष थे। इसमें कोई संदेह नहीं कर सकता, चाहे हमारे और उनके मतभेद भी हों। वर्तमान काल के लोगों में शायद ही कोई आदमी ऐसा हुआ है जिसका नाम उनके साथ लिया जा सके।" यह कहकर रानडे ने स्वामीजी के शिवरात्रि पर बोधोदय की कथा कह सुनाई।

रानडे ने आर्यसमाज और ब्रह्मसमाज को एक करने का प्रयत्न भी कई बार किया था परंतु वे इसमें कृतकार्य नहीं हुए।

उदार पुरुष किसी का दुःख नहीं सह सकते; वे तन, मन, धन से सहानुभूति प्रकट करने के लिये तैयार रहते हैं। स०

१९०० में देश में अकाल पड़ा था। एक इंजिनियर साहब, जो अकालपीड़ित लोगों से उनके सहायतार्थ मजदूरी कराने के काम पर नियुक्त हुए थे, रानडे से मिलने आए। बातचीत में रानडे से उन्होंने कहा—हजार प्रयत्न करने पर भी अकाल से पीड़ित लोगों का मर जाना साधारण सी बात है। रानडे को प्रायः क्रोध नहीं आता था परंतु इनकी बात सुनकर दुःख और क्रोध से उन्होंने कहा कि आप आनंद से जीवन निर्वाह करें और आपके सामने लोगों का भूखों मर जाना साधारण सी बात है। क्या आपका यह धर्म नहीं कि परमेश्वर के बंदों को मौत से बचावें ?

अत्यंत उदार होना और पूरी सहानुभूति रखना बड़ा कठिन है। ऐसा करने में कैसी कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं, रानडे का चरित्र इसका एक अच्छा उदाहरण है।

१४ अक्तूबर स० १८९० की एक घटना इस संबंध में लिखने योग्य है। पूना में एक सेंट मेरीज कान्वेंट है। संध्या समय पादरियों ने पूना के कुछ प्रतिष्ठित सज्जनों को निमंत्रित किया। वहाँ कुछ लेख पढ़े गए और व्याख्यान हुए। तदुपरांत जनाना मिशन की कुछ मेमों ने अपने हाथों से लोगों को चाय देनी शुरू की। उनका मान करने के लिये सबने चाय ले ली, कुछ तो पी गए और कुछ लोगों ने प्याला अलग रख दिया। जितनी स्त्रियाँ उपस्थित थीं उन्होंने चाय लेना भी अस्वीकार कर दिया। इसके दो तीन दिन पीछे इसका

सारा हाल "पूनावैभव" पत्र में गोपाल विनायक जोशी के नाम से छप गया। उसमें ब्राह्मणों पर बड़ा कटाक्ष किया गया था। लिखा था कि यदि कोई गरीब हिंदू विलायत से आता है तो तुरंत निकाल दिया जाता है और ये बड़े बड़े सुधारक धन के बल से ब्राह्मणों को अपने साथ रखते हैं। ब्राह्मण-मंडली के इस धर्म-विरुद्ध आचरण के कारण सुधारक आसमान पर चढ़े जाते हैं।

इसी बीच में रानडे के घर एक दिन भोज हुआ। उसमें गोपाल विनायक जोशी भी आए थे। इस भोज में दो तीन को छोड़कर सब ब्राह्मण ही थे। दूसरे दिन इस भोज का विवरण भी "पूनावैभव" में गोपालराव ने लिख भेजा। यह सब वे केवल मनोविनोद के लिये करते थे परंतु हिंदू-समाज में खलबली मच गई। श्रीशंकराचार्यजी के भी कान खड़े हो गए। लोगों ने सभा करके प्रस्ताव किया कि यदि "पूना-वैभव" में छपी हुई बातों का खंडन अथवा विरोध न किया जायगा तो सुधारक जाति से च्युत किए जायँगे। दो सप्ताह तक उन्होंने आसरा देखा। ५२ आदमियों में से १० ने खेद प्रकट किया और पत्र लिख दिया कि हमने केवल प्याले छुए थे, चाय नहीं पी थी। उनका छुटकारा हो गया। शेष ४२ बहिष्कृत कर दिए गए।

श्रीशंकराचार्यजी ने एक शास्त्री को इसका निर्णय करने के लिये पूना भेजा। इधर सुधारक लोगों के घरों में अशांति

फैलने लगी। रानडे की बहिन ने आग्रह किया कि वे भी क्षमा माँग लें और लिख भेजें कि मैंने चाय नहीं पी थी, बस छुटकारा हो जाय। बात भी सच थी। रानडे ने चाय नहीं पी थी, केवल लेकर रख ली थी। रानडे ने उत्तर दिया—"पागल हुई हो, यह क्योंकर हो सकता है? जब मैं उस मंडली में मिला हुआ हूँ तब जो काम उन्होंने किया वही मैंने भी किया। मैं नहीं समझता कि चाय पीने या न पीने में भी कुछ पाप पुण्य लगा हुआ है, परंतु जिसमें हमारे साथ बैठनेवाले चार आदमी फँसे हैं उससे अलग हो जाना मैं कभी पसंद नहीं करता।" उनकी बहिन ने श्राद्धादि अवसरों पर ब्राह्मणों के मिलने की कठिनाई बतलाई। उन्होंने संस्कारादि कराने के लिये नियमित वेतन पर ब्राह्मण नियुक्त कर लिए क्योंकि वे घरवालों को भी असंतुष्ट नहीं रखना चाहते थे।

दो वर्ष बीत गए। संग्राम ठंढा पड़ने लगा परंतु सुधारकों के गृहस्थी के क्लेश बढ़ते ही गए। जिनके घर की लड़कियाँ ससुराल थीं उनका आना जाना बंद हो गया। इन्हीं दिनों इनके एक परम मित्र, जो चायवाले स्थान में उपस्थित होने के कारण बहिष्कृत थे और जिनका बहुत बड़ा परिवार था, छुट्टियों में अपने घर आए। उनके यहाँ दो एक विवाह भी होनेवाले थे। उनके पिता भी जीवित थे। पिता ने प्रायश्चित्त करने की सलाह दी। उन्होंने पिता की सलाह नहीं मानी। रानडे ने उनसे कहा कि अपने बाल बच्चों को लेकर

मेरे साथ लोनावले में छुट्टी बिताओ। उन्होंने ऐसा ही किया। उनके पिता बड़ी चिंता में पड़ गए। वे दुखी हृदय से पत्र लिखते कि प्रायश्चित्त कर लो। एक दिन उन्होंने रानडे को पत्र दिखलाकर उनसे पूछा कि इसमें क्या करना चाहिए। रानडे का कोमल हृदय अपने मित्र के पिता का दुःख न सह सका। उन्होंने कहा—"यदि मैं तुम्हारे स्थान में होता तो मानहानि सहकर भी पिताजी को संतुष्ट करता।" इस पर उनके मित्र ने कहा—"यदि हमारे साथ आप भी प्रायश्चित्त कर लेते तो ठीक होता।" थोड़े दिनों के बाद पूना से दस बारह और आदमी आ गए। सबने आग्रह किया कि यदि आप प्रायश्चित्त कर लेंगे तो हमारा भी छुटकारा हो जायगा। समाज की कड़ी वेदनाओं से सभी दुखी थे। रानडे के कारण प्रायश्चित्त करने का साहस नहीं करते थे। उनके यह कहने पर कि मैं पिता को कष्ट न देता और प्रायश्चित्त करने की मानहानि सह लेता, सब उन्हीं को प्रायश्चित्त में अगुआ बनाना चाहते थे। रानडे को अपने लड़के लड़कियों का विवाह नहीं करना था, केवल मित्र के दुःख से दुःखी होकर उन्होंने कहा—"चलो, पूना चलकर एक तिथि निश्चय करो, मैं भी उस दिन पहुँचकर तुम्हारा साथ दूँगा।"

सूचना पाने पर प्रातःकाल आप पूना चल दिए और सायं-काल वहाँ से लौट भी आए। इसके बाद जब उनके मित्र भी

लौटे तब उन्होंने उनसे सब हाल पूछा। उनके मित्र ने कहा—मुझे लोगों ने अपने साथ ले लिया, पिताजी के सच्चे प्रेम और उसके कारण सुख का अनुभव मुझे उसी समय हुआ जिस समय प्रायश्चित्त करके ब्राह्मणों के आज्ञानुसार मैंने पिताजी को प्रणाम किया। उस समय उन्होंने मुझे छाती से लगाकर गद्गद होकर कहा—"इतने मनुष्यों में आज तुमने मेरा मुख उज्ज्वल किया।" उस समय उनके और मेरे दोनों के नेत्रों से जल निकल रहा था। पिताजी का इस प्रकार प्रेमपूर्ण व्यवहार या उनके नेत्रों से इस प्रकार अश्रुपात मैंने कभी नहीं देखा था।

माता पिता के प्रेम और समाज के डर ने न मालूम कितने होनहार नवयुवक लोगों की शुभ उमंगों को उनके उत्पत्ति-काल ही में मिट्टी में मिला दिया। जो वीर अपने उज्ज्वल उदाहरण से ब्रह्मचर्य और विद्योन्नति का डंका बजाते, सामाजिक बंधनों में पड़कर वे देश-सेवा का नाम लेने योग्य भी नहीं रहे। रानडे की प्रशंसा इस बात में है कि इस प्रकार की कठिनाइयाँ उपस्थित होने की अवस्था में अपना सिर झुका देने पर भी अपने उद्देश्य को उन्होंने नहीं छोड़ा। परंतु कलकत्ता कांग्रेस में महाराजा नाटोर के इस कथन को अवश्य सत्य मानना पड़ेगा कि "यदि रानडे में कुछ थोड़ी दिलेरी अधिक होती, उनके स्वभाव में कुछ अग्नि अधिक होती—एक शब्द में—यदि वे अधिक बलवान् व्यक्ति होते तो रानडे हमारे

समाज पर उतना ही गहरा प्रभाव डाल जाते जितना राजा राममोहन राय ने डाला।"

परंतु रानडे की यह कमजोरी एक बड़े गुण का परिणाम थी। वे सबको साथ लेकर चलना चाहते थे।

अँगरेज कवि आर्नल्ड की एक प्रसिद्ध कविता का भाव उनकी अवस्था पर ठीक ठीक घटता है।

'संसार के बालू पर मनुष्यों की सेना आगे चल रही है। इन लोगों का पैर ठीक नहीं पड़ रहा है। ईश्वर ने उन्हें उत्पन्न किया है, इनको जहाँ जाना है वह स्थान भी मालूम है। परंतु मार्ग लंबा है, इनको बालू में चलते वर्षों बीत गए। प्यास से ये दुखी हैं। चारों ओर बालू फैला हुआ देखकर ये लोग हिम्मत हार जाते हैं। इनका समूह कई दलों में विभाजित हो गया है। इनकी सेना के तितर बितर हो जाने का डर है। हाय! इन सब लोगों को मिलाए रखो, नहीं तो हजारों की सेना में से एक भी नहीं बचेगा, सब अलग अलग भटकेंगे। वृथा बालू में छटपटाकर एक एक करके मर जायँगे।'

रमाबाई को भी रानडे का प्रायश्चित्त करना पसंद नहीं आया था। वे मन में कहने लगीं कि पूनावालों के लिये उनको बदनामी भी उठाना पसंद है। रानडे के पूना से वापस आने पर उन्होंने समझा था कि उनको बड़ा रंज होगा, इस-लिये वे उनके सामने नहीं गईं परंतु आड़ से देखने से मालूम

हुआ कि वे शांतिपूर्वक अपनी डाक और अखबार देख रहे हैं। किसी प्रकार उद्विग्न या चिंतित नहीं थे। उन्हेंाने भोजनादि भी प्रसन्नता से किया। दूसरे दिन से मित्रों ने आकर अपनी अप्रसन्नता प्रकट करनी शुरू की। टाइम्स पत्र में दो एक लेख भी प्रायश्चित्त की कड़ी समालोचना करते हुए निकले। ..ने शांतिपूर्वक उनको पढ़ लिया। इस संबंध में रमाबाई के बातचीत करने पर आपने कहा—"अपने मित्रों और साथ रहनेवालों के लिये यदि थोड़ी बुराई भी सहनी पड़े, तो उसमें हानि क्या हुई।"

आशा और विश्वास की अधिकता

We should learn to be men, stalwart puritan men, battling for the right, not indifferent, nor sanguine, trustful but not elated, serious but not dejected—Ranade.

रानडे में सबसे बड़ा गुण आशा और विश्वास का आधिक्य था। उन पर कभी नैराश्य नहीं छाता था। शुभ कर्म्म करने में कभी उन्होंने विश्वास नहीं छोड़ा। निराशा की बातों को वे हवा में उड़ा देते थे। गोखले इस संबंध में अपना अनुभव इस प्रकार लिखते हैं—

"रानडे की एक बात, जो मैं समझता हूँ १८९१ में उन्होंने मुझसे कही थी, मेरी स्मृति पर वज्रांकित हो गई है। उस वर्ष सोलापुर और बीजापुर के जिलों में घोर अकाल पड़ा था। सार्वजनिक सभा ने, जिसका मैं उस समय मंत्री था, अकाल-

पीड़ित लोगों की अवस्था पर बहुत सी सामग्री इकट्ठी की थी और समय पाकर इस विषय पर सरकार की सेवा में एक प्रार्थना-पत्र भी भेजा था। इस पत्र को हम लोगों ने बड़ी मेहनत और विचार से लिखा था परंतु सरकार ने केवल दो पंक्ति का उत्तर लिख भेजा कि हम लोगों ने तुम्हारे पत्र का विषय नोट कर लिया है। मुझे यह उत्तर पाकर बड़ी निराशा हुई और दूसरे दिन जब रानडे संध्या को टहलने जा रहे थे मैं भी उनके साथ हो लिया। मैंने उनसे पूछा—'इतना कष्ट उठाने और सरकार की सेवा में पत्र भेजने से क्या लाभ जब कि सरकार उत्तर में इससे अधिक लिखने की परवाह नहीं करती कि उसने हमारे पत्र के विषय को नोट कर लिया ?' रानडे ने उत्तर दिया—"आप नहीं जानते कि हमारे देश के इतिहास में हमारा क्या स्थान है। ये प्रार्थना-पत्र केवल नाम मात्र के लिये सरकार के नाम भेजे जाते हैं यथार्थ में ये लोगों के नाम भेजे जाते हैं जिसमें वे इन विषयों पर सोचना सीखें। कई वर्ष तक इस काम को बिना किसी फल की आशा के करना पड़ेगा, क्योंकि इस प्रकार की राजनीति इस देश में नई है। इसके अतिरिक्त यदि सरकार जो कुछ हम कहते हैं उसको नोट कर लेती है—यह भी बहुत कुछ है।" जो देशहितैषी थोड़ी थोड़ी बातों से आशा त्यागने लगता है वह कुछ काम नहीं कर सकता। काम करनेवाले को देश की अवस्था, लोगों की दशा, उनके पूर्व के इतिहास पर दृष्टि रखते हुए चलना चाहिए। सर्वदा सब

बात मनमानी नहीं हो सकती। कठिनाइयाँ अवश्य होती हैं। रानडे ने जब सोशल कान्फरेंस चलाई थी, चारों ओर से लोग उसका विरोध करते थे। उसके अधिवेशनों में गिने चुने लोग आते थे। जनसमूह में उसके लिये कोई अनुराग नहीं था। १८९१ के लगभग एक दिन गोखले ने उनसे यह पूछने की हिम्मत की कि "जब सोशल कान्फरेंस की उन्नति के संबंध में आपके बड़े से बड़े प्रेमी मित्र सिर हिला देते हैं और कहते हैं कि सभाएँ करने, प्रस्ताव पास करने और इस प्रकार के निरर्थक कार्यों में क्या रखा है, तब कौन सी बात है जो आपके अनुराग को कायम रखती है और आप उसके लिये निरंतर उद्योग करते हैं ?" उन्होंने उत्तर दिया—"काम निरर्थक नहीं है, बल्कि इन लोगों का विश्वास छिछला है।" कुछ सोचकर फिर उन्होंने कहा—"कुछ वर्षों तक ठहरो, मुझे समय आता दिखलाई देता है, जब लोग यही प्रश्न कांग्रेस के बारे में पूछेंगे जिसके लिये आजकल लोगों को इतना जोश है। हमारी जाति में एक प्रकार का दोष है कि हम निरंतर उद्योग के बोझ उठाने की योग्यता नहीं रखते।"

रानडे की भविष्यवाणी ठीक निकली। थोड़े ही वर्षों में कांग्रेस भी फीकी पड़ने लगी और बहुत से लोग उसके संबंध में भी कहने लगे कि उसके रखने की क्या आवश्यकता है। हमारे देश में यह साधारण दृश्य है कि लोग काम को बड़े जोश के साथ उठाते हैं परंतु थोड़े ही दिनों में हिम्मत पस्त

हो जाती है। "आरंभशूरों" की हममें न्यूनता नहीं है, न्यूनता है ऐसे लोगों की जिनको अपने काम में पूर्ण विश्वास हो और जो उसकी उन्नति की पूरी आशा रखते हों। रानडे के निरंतर उद्योग से सोशल कान्फरेंस दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति कर गई। उसकी उन्नति के लिये कोई काम वे छोटा नहीं समझते थे। जैसे विवाह आदि अवसरों पर लोग घर घर निमंत्रण देते हैं उसी प्रकार रानडे सोशल कान्फरेंस के लिये बुलाने जाया करते थे।

रानडे ने तैलंग की वर्षी पर कहा था—"हम इस देश के योग्य नहीं हैं यदि हमें अपने देश के इतिहास से आशातीत होने की शिक्षा नहीं मिलती—वह इतिहास जो संसार की समस्त जातियों के इतिहास से बढ़कर है। एशिया, योरोप, अफ्रिका अथवा अमेरिका का नक्शा देखिए। आपको मालूम होगा कि संसार में कोई भी देश ऐसा नहीं है जिसकी अटूट स्थिति इतने अनंत काल से चली आई हो। अन्य देशों में जातियाँ और धर्म उठे, बढ़े और नाश को प्राप्त हो गए, परंतु भारत भाग्यवान् है कि अनेक अंशों में अधोगति को प्राप्त होकर भी यहाँ के निवासी संकटों से बचते ही चले आए हैं मानो ये किसी विशेष उद्देश्य को लेकर संसार में भेजे गए थे। उस उद्देश्य का झंडा वर्त्तमान काल के लोग अथवा उनसे कुछ पहले के लोग उठाने की योग्यता न रखते हों परंतु सच्ची बात यह है कि हम उस धर्म, उस इतिहास, उस साहित्य, उस दर्शन,

उस आचार-व्यवहार, उन विचारों के माननेवालों के प्रतिनिधि हैं जो बराबर चले आ रहे हैं और जो इसी देश में पाए जाते हैं और जिनको हमारे पूजनीय पूर्वजों ने इस देश से अन्य देशों में फैलाया था। आप पूछ सकते हैं कि इसमें कौन बड़ी बात है कि जिसके कारण हमारी आशाएँ बढ़ें। वस्तुतः ईश्वरी न्याय में यह बिलकुल व्यर्थ नहीं हो सकता कि हम पर इतनी कृपा हो। यदि कई सहस्र यहूदियों का सुरक्षित चला आना करामात है तो मनुष्यजाति के पाँचवें अंश का आश्चर्यजनक सुरक्षित चला आना केवल संयोग मात्र नहीं हो सकता।" इसी व्याख्यान में आगे चलकर उन्होंने बतलाया है कि हममें अनेक लोग ऐसे हैं जो बच्चों की तरह थोड़े ही में प्रसन्न हो जाते हैं और थोड़े ही में अप्रसन्न। बच्चे को खिलौना मिल जाय वह रोना बंद कर देता है। खिलौना छीने जाने पर रोने लगता है। जो लोग अपने देश के भविष्य की आशा रखते हैं वे यह भली भाँति जानते हैं कि उन्नति कड़ी तपस्या के अनंतर मिलती है। इसलिये कठिनाइयाँ और संकट जो उपस्थित होते हैं वे केवल हमारे साधन में सहायता करते हैं और हमारे विश्वास की परीक्षा करते हैं। यही रानडे के जीवन की सफलता का रहस्य था। इसी कारण उनको किसी ने जल्दी करते, माथा पटकते या किस्मत पर दोष देते नहीं पाया।

---

(८) अंतिम दिन, मृत्यु और स्मारक

"And what life there was on the face even after death! It bore then the mark of gentleness. Death had done its work, but it could not take away his Faith, Charity and Love, which brightened it even when the corpse was laid on the funeral pyre. Purity shone on him, gave life and beauty to his face even after death, because the soul within has before death—throughout his life—been pure. It was the character within that gave beauty to the face without."

—Sir Narayan Chandavarkar.

१९०० की जुलाई से रानडे के पेट में ऐंठन का रोग लग गया, अगस्त से यह भयानक हो गया। १० सितंबर १९०० की एक चिट्ठी में, जो रानडे ने अपने मित्र मानकर को लिखी थी, उन्होंने इस प्रकार अपने रोग का वर्णन किया था—"आपके कृपापत्र से मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। मुझे इस बेर केवल दस्तों ही का रोग नहीं था। दस्तों के बंद हो जाने से दूसरा रोग लग गया। मुझे मालूम होता था कि शरीर की शक्ति बिलकुल जाती रही। दस पन्द्रह दिन के पीछे दहने और बाएँ हाथ में दर्द और साथ ही छाती के ऊपरी हिस्से में पीड़ा उत्पन्न हो गई। यह दर्द मुझे रात के ९ बजे के बाद उठता और रात भर बेचैन कर देता। अब भी दूसरे तीसरे दिन पीड़ा

उठती है। इसका कारण पेट के ऊपरी हिस्से में वायु का जमा होना बतलाया जाता है। डाक्टरों की राय है कि जब मुझे फिर बल आ जायगा तब दर्द नहीं होगा। प्रायः पाँच सप्ताह तक मैं घर ही पर रहा। इस सप्ताह से फिर कचहरी जाने लगा हूँ। दीवाली की छुट्टी के बाद मैं और छुट्टी लूँगा और महाबलेश्वर जाकर रहूँगा।" डाक्टरों की राय से आप एक महीने की छुट्टी लेकर माथेरान चले गए थे। वहाँ फिर इस रोग ने सताया। रमाबाई उन दिनों बहुत बीमार थीं, तिस पर वे बच्चों को लेकर माथेरान पहुँचीं। वहाँ रहने से थोड़ा ही फायदा हुआ।

इस समय के कुछ पूर्व ही से रानडे सांसारिक वस्तुओं से अपनी रुचि कम करने लगे थे।

"तन जग में मन हरि के पासा।
लोक भोग सूँ सदा उदासा॥"

किताब पढ़कर सुनानेवाला यदि कहीं भूल करता तो आप उसको न बतलाते और उसको पढ़ने देते। घर गृहस्थी की कोई बात आती तो आप रमाबाई से कहते—यह काम तुम्हारा है, हमें इसमें दखल देने की जरूरत नहीं। डाक्टर ने एक तेल मलने को बतलाया था, उनकी बहिन तेल मल देतीं। वे उनसे और लड़कियों से भजन गीतादि गाने का आग्रह किया करते और उनके गाने पर प्रसन्न होते। डाक्टरों की राय थी कि नौ दस बजे रात को दर्द होने का समय आने से पहले ही

हँसी दिल्लगी की बातें होनी चाहिएँ परंतु इससे कुछ फायदा नहीं हुआ। प्रतिदिन उसी समय छाती बँध जाती और हाथ पैर ऐंठने लगते। कुछ देर के बाद जँभाई, डकार आदि आने से दर्द कम होने लगता, परंतु शरीर बहुत शिथिल हो जाता था। इस बीमारी से कुछ पहले रानडे को धूप लग जाने से एक बेर ज्वर आ गया था और इनकी स्त्री भी बीमार हुई थीं जिसके कारण बेहोश करके डाक्टरों ने चीरफाड़ की थी। इन सबका भी प्रभाव उनके स्वास्थ्य पर पड़ा था। उनकी आत्मा साथ ही पवित्र होती जाती थी। अपना कोई काम उन्होंने नहीं छोड़ा। मन पारमार्थिक चिंतन में अधिक लगता, समाचार-पत्रों में राजकीय, औद्योगिक और सामाजिक विषयों की अपेक्षा धार्मिक विषयों के लेख वे अधिक पढ़ते। पर यह परिवर्त्तन ऐसी गंभीरता से हुआ था कि इसको केवल वे ही लोग परख सकते थे जिन्हें उनसे घनिष्ठ संबंध रखने का सौभाग्य प्राप्त था। भोजन की मात्रा भी कम होने लगी। दाख का भी, जो उनको बहुत पसन्द थी, खाना उन्होंने कम कर दिया। एक दिन रमाबाई ने भोजनोपरांत दस बारह दाखें दीं परंतु उन्होंने आधी खाकर शेष छोड़ दीं। रमाबाई के आग्रह करने पर आपने कहा—"तुम चाहती हो कि हम खूब खायँ, खूब पिएँ, परंतु अधिक खाने से क्या कभी जिह्वा को तृप्ति होती है, उलटी लालसा और बढ़ती है। सब लोगों को इन विषयों में नियमित रहना चाहिए।"

चाय के घूँट भी आप गिनती के पीने लगे। वे भोजन के अच्छे अच्छे पदार्थ थोड़े खाकर शेष छोड़ देते। रमाबाई पूछतीं—"क्या यह चीज अच्छी नहीं बनी ?" आप कहते "यदि तुमने बनाई है तो अवश्य अच्छी बनी है, परंतु अच्छे होने का यह अर्थ नहीं है कि बहुत खा ली जाय। भोजन का भी कुछ परिमाण होना चाहिए।" रमाबाई ने इन्हीं दिनों चुपचाप उनके भोजनों के ग्रास गिनने शुरू किए। वे लिखती हैं कि वे ३२ ग्रास से अधिक न खाते थे।

जब पीड़ा होती डाक्टर बुलाए जाते। उनसे वे खूब विचार-पूर्वक चिकित्सा संबंधी बातें करते परंतु साथ ही यह भी कह देते कि दवा केवल साधन मात्र है। "मैं दवा इसलिये पी लेता हूँ कि लोग पीछे दोष न दें और दूसरे जब तक मनुष्य जीवित रहे उद्योग न छोड़ना चाहिए।" इन्होंने डाक्टरों से कई बेर पूछा कि मेरा रोग क्या है ? परंतु डाक्टर उनसे छिपाते थे। तब आपने मेडिकल कालेज से बहुत सी पुस्तकें मँगाकर पाँच छः दिन तक पढ़ीं और डाक्टर से कहा—"आप छिपाया कीजिए, मैं अपनी बीमारी का नाम आप ही बतला देता हूँ। क्या मेरी बीमारी का नाम 'एंजिना पेक्टो-रिस' नहीं है ? यह बीमारी मेरे एक मित्र को भी हुई थी।" डाक्टर यह सुनकर कुछ घबरा से गए क्योंकि वे नहीं चाहते थे कि रानडे को यह मालूम हो जाय कि उनका रोग भयंकर है। डाक्टर ने उत्तर दिया कि "लक्षण मिलाकर उसे

आपका एंजिना पेक्टोरिस कहना बहुत ठीक है। पर आपको कल्पना के कारण ही इस रोग का भास होता है। इसका असल नाम 'स्यूडो' एंजिना पेक्टोरिस है। इसमें रोगी को कल्पना मात्र के कारण ठीक उसी रोग का भास होता है। इस प्रकार के बहुत से रोग हैं जिनके वास्तव में न होने पर भी रोगी के मन पर उसका बड़ा प्रभाव और बुरा परिणाम होता है। यह भी उन्हीं में एक है।"

रानडे ने कहा—"इसमें कुछ 'स्यूडो' (असत्य) अवश्य है। यह बीमारी ही 'स्यूडो' है और नहीं तो कम से कम मुझे समझाने के लिये आपका यत्न ही 'स्यूडो' है।" रानडे ने यह कहा था कि "मेरे एक मित्र को भी यह बीमारी हुई थी।" इसका विवरण उन्होंने रमाबाई को संध्या समय बुलाकर सुनाया—"कोई ३५ वर्ष हुए, विष्णुपंत रानडे नामक हमारे एक मित्र थे। उनका स्वभाव शांत, उदार और बहुत अच्छा था। शरीर से भी वे अच्छे और बलवान् थे। उन्हें कोई व्यसन नहीं था। एक बेर घोड़े से गिरने के कारण उन्हें एंजिना पेक्टोरिस नामक बीमारी हुई थी। यद्यपि वे तीन वर्ष बाद तक जीए तो भी उनका जीवन महासंशयात्मक बना रहा। इसलिये डाक्टरों ने उन्हें किसी प्रकार का श्रम न कर चुपचाप बिछौने पर पड़े पड़े पढ़ने लिखने से दिल बहलाने की राय दी। वे सदा घर में ही रहते और एक न एक आदमी उनके पास बैठा रहता। इतना होने पर भी एक दिन शौच के समय ही

उनके प्राण निकल गए **इसलिये कोई नहीं कह सकता किस समय मनुष्य को क्या हो जायगा।"**

रानडे बहुत दिनों से सोच रहे थे कि पेंशन लेकर देश-सेवा करें। अब उन्होंने छुट्टी लेने का दृढ़ निश्चय कर लिया।

१९०० की कांग्रेस के अधिवेशन के दिन निकट आ रहे थे। सोशल कान्फरेंस में जाने की तैयारी उन्होंने शुरू कर दी थी। बीमारी होने पर भी वे समाज-संशोधन संबंधी विवरण एकत्र करते, पत्रों का उत्तर देते, भिन्न भिन्न संस्थाओं से आई हुई रिपोर्टों का सारांश लिखते। उन्होंने "वशिष्ठ और विश्वामित्र" शीर्षक लेख सोशल कान्फरेंस में पढ़ने के लिये तैयार किया। इन सबसे जो समय बचता उसमें वे लाहौर जाने की तैयारी करते। बीमारी के कष्ट के कारण रमाबाई को भी साथ ले जाने का निश्चय हुआ। पूना के मित्र भी पहुँच गए। रेल के कमरे रिजर्व करा लिए गए। जिस दिन जाना निश्चय हुआ उसके एक दिन पहले अधिक परिश्रम के कारण रात को पेट का दर्द बहुत बढ़ गया। पीड़ा देर तक रही। रात भर नींद नहीं आई। बेचैनी बहुत बढ़ गई। सबेरे डाक्टर भालचंद्र बुलाए गए। पूना के मित्रों को भी सब हाल मालूम हुआ। सबने लाहौर-यात्रा करने से मना किया। श्री० गोपाल कृष्ण गोखले ने समझाया कि डाक्टर का कहना मानना ही अच्छा है और कहा "जो काम करने हों, मुझे बतलाइए, मैं आपके कथनानुसार सब कर लूँगा।" रानडे ने कहा—**"अब सब**

काम तुम्हीं करोगे जी। यह सब तुम्हीं पर आ पड़ेगा। सब काम ठीक ठीक होगा, इसका जिम्मा तुम लो।" अंतिम वाक्य उन्होंने दो तीन बेर कहे। गोखले मौन रहे। रानडे का स्थानापन्न बनकर पूरी जिम्मेदारी लेना साहस का काम था। रमाबाई के समझाने पर उन्होंने जिम्मा लिया। इस पर रानडे ने कहा—"अठारह वर्ष तक बराबर जाकर अब यह विघ्न पड़ रहा है।" यह कहते हुए उनकी आँखों में आँसू आ गए। अपना व्याख्यान उन्होंने गोखले के सुपुर्द किया और अपने सौतेले भाई आबा साहब को पूना-वालों के साथ लाहौर भेज दिया। अपनी अनुपस्थिति पर क्षमा-प्रार्थना का तार लाहौर भेज दिया और सब लोगों को ताकीद कर दी कि सोशल कान्फरेंस के निर्विघ्न समाप्त होने पर एक तार भेज दें।

जिस दिन और लोग पूना गए उसी दिन रानडे घरवालों के साथ लोनावला गए। वहाँ पूना के मित्र उनसे मिलने आए और सबने पूना चलने का आग्रह किया। इसी बीच में लाहौर के यात्री भी वापिस आ गए। वहाँ का विवरण सुनकर मन का बोझ हल्का हुआ। इसके बाद समाचार-पत्रों में गोखले और चंदावरकर के भाषण पढ़कर उन्होंने उनको अपने हाथ से पत्र लिखे जिनका आशय यह था—"मुझे यह देखकर बड़ा संतोष हुआ कि भविष्य में यह भार उठाने के लिये तुम दोनों योग्य हो गए हो। इस संबंध में मुझे जो चिंता थी वह अब कम हो गई।"

लोनावला में उनका कष्ट बढ़ गया। इसलिये दस दिन के बाद वे फिर बंबई आ गए। वहाँ आकर कुछ फायदा मालूम होने लगा और नियमानुसार लिखना, पढ़ना और टहलना जारी हो गया। ८ जनवरी १९०१ से उन्होंने छः मास की छुट्टी ली और यह निश्चय कर लिया कि छुट्टी समाप्त होने पर पेंशन ले पूना जाकर रहेंगे। घरवालों को समझाया कि अब खर्च कम करना पड़ेगा क्योंकि आमदनी कम हो जायगी। छुट्टी मंजूर हो गई और सरकारी चपरासी और सिपाही इनाम देकर कचहरी भेज दिए गए। सिपाही रोने लगे। एक चोबदार ने कहा कि दो सिपाही रख लिए जायँ और दो भेज दिए जायँ क्योंकि नियमानुसार छुट्टियों में भी हाईकोर्ट के जज के दो अर्दली रह सकते हैं। रमाबाई ने कहा—"नहीं, हाईकोर्ट का यह नियम हो सकता है पर हमारा नियम ऐसा नहीं।" इस पर सब चपरासी दीवानखाने में रानडे के पास जाकर पैरों पर सिर रख रोने लगे। चले जाने पर फिर फिरकर वे लोग पीछे देखते थे।

रानडे ने इस समय पूना चलने की पूरी तैयारी कर ली। जिस बँगले में वे रहते थे उसके मालिक को भी उन्होंने लिख भेजा कि बँगला एक महीने के अंदर खाली हो जायगा। बँगले-वाले ने दूसरे ही दिन दर्वाजे पर 'किराए पर देना है' का इश्तिहार लगा दिया। इस पर उनके घरवालों ने बड़ा बुरा माना। रानडे ने कहा, इसमें बुरा मानने की बात नहीं। घर

की स्त्रियाँ कहतीं कि दूसरे ही दिन "To let (टू लेट)" की तख्ती लगानी थी तो केवल छः महीने के लिये घर छोड़ने की क्या जरूरत थी। रानडे ने बातचीत में कह दिया—"हमारी तबीयत का हाल तुम लोग नहीं देखतीं? **क्या तुम लोग समझती हो कि यह छुट्टी समाप्त करके मैं लौट आऊँगा?"**

इस असह्य दुःख और चिंता के समय यह मालूम होता था कि रानडे अपने कष्ट को चुपचाप सहन कर रहे हैं। यदि कोई तबीयत का हाल पूछता तो कहते—"हाँ, चला ही चलता है। कभी अच्छे हैं तो कभी बीमार। व्याधि तो शरीर के साथ है। दवा हो ही रही है" अथवा "ओह! मुझे तो सदा ऐसा ही होता है, इसलिये कहाँ तक इसका खयाल किया जाय, मुझे कुछ विकार हो गया है उसी के कारण कभी कभी ऐसा होता है"—इत्यादि। परंतु घर के लोग और इष्ट मित्र समझ रहे थे कि अब खराबी आनेवाली है। इनके सामने तो सब गंभीर बने रहते थे पर इनके पीछे चिंतित अवस्था में ये लोग रोने लगते। रानडे ने अपने हृदय का विचार दबाने के लिये शांति से बोलना शुरू किया। वे अपना सब कष्ट चुपचाप सहन कर लेते। किसी दूसरे पर यथाशक्ति प्रकट न होने देते। सारा दिन लिखने पढ़ने में बिताते। यदि शरीर के किसी भाग में दर्द बहुत बढ़ जाता तो तेल लगवा लेते। देखनेवाले समझते थे कि किसी गंभीर विचार में मन लगा हुआ है। शांति

में भेद एक दिन भी न पड़ा। मालूम होता था कि मानसिक बल और शारीरिक पीड़ा में युद्ध हो रहा है और पहले के सामने दूसरे का कुछ जोर नहीं चलने पाता। बिछौने पर पड़कर वे अवश्य काँखने लगते थे। बहुत चेष्टा करने पर भी कठिनाई से कुछ निद्रा आती थी परंतु जागते रहने पर इस तरह पड़े रहते माना सोए हैं, जिससे और लोगों की नींद में फर्क न पड़े। सबेरे नियमानुसार उठकर वे नित्यकर्म में लग जाते। दोपहर को भोजन के पश्चात् जब बातचीत करने बैठते तब प्रत्येक बात उपदेश-पूर्ण कहते, उसमें चिंता या निराशा का लेशमात्र न रहता। बच्चों से भी कुछ हँस बोल लेते।

इसी प्रकार कई दिन बीत गए। १४ जनवरी को पैर में सूजन आ गई जिसके कारण घर के लोग घबरा गए। परंतु डाक्टरों ने आश्वासन दिया कि घबराने की कोई बात नहीं है। उस दिन की रात को पीड़ा भी अधिक हुई। दूसरे दिन उनकी दृष्टि भी अपने सूजे हुए पैरों की तरफ गई। भोजन करने की भी उस रोज रुचि नहीं थी। ग्रास थाली से उठाकर फिर उसी में रख दिया। कई दिन से घर के लोग उनके पीछे पड़े थे कि पढ़ना-लिखना छोड़ दो, परंतु वे चुप रहते। इस दिन बहिन के कई बेर कहने पर उन्होंने कहा—"बहुत अधिक कष्ट को कम करने के लिये यह तो साधन मात्र है, और विश्रांति का अर्थ क्या है? जिस पढ़ने में मन लगता है, समाधान होता है और छोटी मोटी वेदनाएँ योंही भूल जाती हैं उसे छोड़ने से

क्या विश्रांति मिलेगी? **बिना कोई काम किए निरर्थक जीवन बिताने का समय यदि आ जाय तो तत्काल ही अंत हो जाना उससे कहीं अच्छा है।"**

उसी दिन जब सब लोग खाना खा चुके तब आप रमाबाई की ओर देखकर हँसे और बोले—"आज तुम्हारा भोजन अच्छा नहीं बना, इसलिये मुझे भी भूख नहीं लगी।" जिन पातिव्रत्य भावों का उद्‌गार उस दिन रमाबाई के चित्त में हुआ उनका परिचय उन्हीं के शब्दों में यहाँ कराना उपयुक्त होगा। वे लिखती हैं—"मुख-शुद्धि के लिये फल और सुपारी देकर मैं ऊपर चली गई और किवाड़ बंद कर एक घंटे तक वहाँ पड़ी रही। जब मुझे अपने पागलपन का ध्यान आया तब मैं अपने आपको बुरा भला कहती हुई नीचे उतरी। कभी आशा और कभी निराशा और उसके बाद कुकल्पना ने मुझे पागल कर दिया था। किसी काम में मन नहीं लगता था। कभी स्त्रियों में जा बैठती और कभी आपके पास दीवानखाने में चली जाती। मैं बहुत चेष्टा करती थी कि इस दुष्ट मन में टेढ़ी मेढ़ी कल्पनाएँ न उठें परंतु वह मानता ही न था। मैं किसकी शरण जाऊँ? मेरा संकट कौन दूर करेगा? ईश्वर! मेरी लाज तेरे हाथ है। आज तक कैसी कैसी बीमारियाँ हुईं, परंतु तूने ही समय समय पर रक्षा करके मुझे जिस भाग्य-शिखर पर चढ़ाया है, आज क्या उसी शिखर पर से तू मुझे नीचे ढकेल देगा? नहीं, मुझे विश्वास है कि ऐसा नहीं होगा। नारायण,

मेरे होश सँभालने के समय से मेरे सारे सुख और आनंद का केंद्र यही रहा है। इसलिये तू ही इसे सँभाल। मुझे शांति दे। इससे अधिक सुख मैंने किसी बात में नहीं माना। संसार में बाल बच्चों के न होने का विचार मेरे मन में नहीं आया। मैं इस सहवास में संतुष्ट और लीन हूँ। राजों, महाराजों और जागीरदारों की स्त्रियाँ संतानों और अधिकारवैभव में चाहे कितनी ही बड़ी हों तो भी मुझसे अधिक सुखी नहीं हैं। आपकी प्राप्ति से मुझे जो समाधान है उसकी उपमा नहीं है। ईश्वर इस समय रक्षण करने में तू ही समर्थ है।"

रानडे भी समझ रहे थे कि चारों ओर घर में व्याकुलता छाई हुई है। वे जानते थे कि यह समय रमाबाई के लिये अत्यंत क्लेश का है, इसलिये वे उनको अपने पास बैठने के लिये कहते। जब वे कहीं जाने लगतीं, तब उँगली पकड़कर बैठा लेते और कहते—"कहीं जाने की जरूरत नहीं! अब कहाँ जाती हो, अभी तुम बीमारी से उठी हो, व्यर्थ नीचे ऊपर आने जाने का कष्ट न करो। जो काम हो लड़कों से कह दो या किसी नौकर को ही बुलाकर यहाँ ठहरने के लिये कह दो जिससे तुम्हें घड़ी घड़ी न जाना पड़े।"

इन दिनों रात के समय डाक्टर घर ही पर रहने के लिये बुला लिए जाया करते थे। परंतु बुधवार १६ जनवरी का दिन प्रकट रूप में बड़ा भाग्यवान् था। रानडे का चित्त उस दिन बड़ा स्वस्थ था। डाक्टर को उस दिन उन्होंने स्वयं टेलीफोन के

द्वारा सूचना दी कि आज रात को कष्ट करने की जरूरत नहीं। दिन भर का काम करके सायंकाल रमाबाई और अपने भाई के साथ गाड़ी पर वे हवा खाने गए और उन्हीं के साथ एक मील टहले। उन्हीं दिनों दुर्भिक्ष कमीशन भारतवर्ष में घूम रहा था। जयपुर के दीवान रायबहादुर कांतिचंद्र मुकर्जी उसके सभासद थे। जब कमीशन नागपुर पहुँचा तब राय कांतिचंद्र बहादुर की अचानक मृत्यु हो गई। घर पहुँचने पर रानडे को इस मृत्यु का तार-समाचार सुनाया गया। उन्होंने कहा—'**काम करते हुए मरना भी कैसा आनंददायक है।**" इसके बाद उन्होंने १८ पत्र लिखवाए, जस्टिस मैकार्थी कृत History of our own times का एक अध्याय पढ़वाकर सुना और मिलनेवालों से बातचीत की। वे उन दिनों मिलनर कृत ईसाई धर्म का इतिहास भी पढ़ा करते थे।

उस समय भाटिया जाति की एक अल्पवयस्का कन्या विधवा हो गई थी। उन लोगों में कभी विधवा-विवाह नहीं हुआ था। इसलिये इस संबंध में रानडे से सलाह लेने बहुत से लोग आए थे। लोगों ने सोचा था कि इस जाति में नई बात होने के कारण बंबई के उस समय के गवर्नर की स्त्री लेडी नार्थकोट को विवाह के समय बुलाना चाहिए। रानडे ने इस प्रस्ताव को पसंद किया। रमाबाई से प्रार्थना की गई कि वे लेडी नार्थकोट से इस संबंध में मिलें। रमाबाई ने कहा कि यदि रानडे की तबीयत अच्छी रही तो मैं जाऊँगी। इसके बाद

रानडे ने विवाहवालों की जाति, अवस्था, संबंध इत्यादि विषयक प्रश्न पूछे और भाटिया जाति का इतना हाल उन्होंने स्वयं बतलाया कि सुननेवालों को उनके ज्ञान-विस्तार पर आश्चर्य हुआ। उन लोगों के चले जाने पर उन्होंने भोजन किया। तब घर की स्त्रियों ने प्रार्थना-समाज की भजनावली के कुछ गीत सुनाए। पीड़ा उठने का समय निकट आ रहा था, उसके लक्षण मालूम हो रहे थे। रात के ६-४५ पर वे बिछौने पर जा सोए और आध घंटा अच्छी नींद आ गई। १०-१५ पर उनकी नींद एकाएक खुली और उन्होंने कहा कि मेरे कलेजे पर थोड़ा थोड़ा दर्द उठ रहा है। थोड़ी ही देर में इतना दर्द बढ़ गया कि वे बोले—"इस दर्द से मरना अच्छा।" तुरंत डाक्टर सर भालचंद्र को बुलाने के लिये टेलीफोन किया गया। पड़ोस में एक पारसी डाक्टर रहते थे। वे भी बुलवाए गए। पर डाक्टर के पहुँचने के पहले उनकी अवस्था बिगड़ चुकी थी। पतिव्रता रमाबाई के कंधे पर अपना सिर रखकर उन्होंने कहा—"अब मेरा अंत समय आ गया।" इसके बाद कै हुई जिसमें खून निकला और १०-३० के करीब आत्मा उनके शरीर से बिदा हो गई। जो १६ जनवरी सबेरे बड़ी भाग्यवती मालूम होती थी वह बड़ी अभागिनी निकली। जो शरीर दिन के समय आह्लादित मालूम होता था वह केवल बुझती हुई ज्योति का अनुकरण कर रहा था। जिस महापुरुष ने ३५ वर्ष तक अपने देश का सिर ऊँचा करने के लिये अपनी विद्या, बुद्धि

और परिश्रम से निरंतर उद्योग किया और एक दिन भी विश्राम न किया वह भी अंत में शांति को प्राप्त हुआ। घर के लोगों की रात कटनी मुश्किल हो गई। जिस सौतेली माता को उन्होंने जीवन में निज मातृ-तुल्य समझा था उसको यह मालूम होता था कि मानो अपना जाया पुत्र उससे अलग हो गया, जिस दुर्गा बहिन की आज्ञा का उल्लंघन करना वे अपने सिद्धांत के विपरीत समझते थे उसको उस दिन प्रतीत हुआ कि वह भाई, जिसके जीवन के उद्देश्य में बाधा डालकर उनके आदर्श को वह न बदल सकी, कैसी दैवी शक्ति का महानुभाव था; जिन सौतेले भाइयों—नीलकंठ आबा और श्रीपाद बाबा—को वे अपने सगे भाई के समान समझते थे, उन लोगों के दुःख की कोई सीमा नहीं थी, पर हा! एक महापूजनीया देवी भी उसी शोकसागर में डूबी हुई थी। उसका जीवन इस महापुरुष के जीवन के साथ गुथा हुआ था, पर काल ने उसको भी अपनी कठोर परीक्षा में डाल ही दिया। इस देवी का अभ्युदय इस महापुरुष की कीर्ति का एक असाधारण स्तंभ है।

दूसरे ही दिन प्रातःकाल समस्त बंबई नगर में इनका मृत्यु-समाचार फैल गया। जिन्होंने एक दिन पहले सायं-काल उनको टहलते देखा था उन्हें थोड़ी देर तक इस समाचार पर विश्वास नहीं हुआ। परंतु सबेरे के समाचार-पत्रों द्वारा सूचना पाते ही उनके बँगले पर लोगों की भीड़ जमा

होने लगी। सबसे पहले चीफ जस्टिस सर लारेंस जेंकिंस फूलों की एक बड़ी माला लिए हुए पहुँचे। हाईकोर्ट के कई जज, बंबई के प्रसिद्ध नेता और देश-भक्त, धनाढ्य और पंडित एक दूसरे के बाद आने लगे। ठीक १० बजे मुर्दा उठाया गया। सब लोग साथ हो लिए। हाईकोर्ट के अँगरेज जज भी कुछ दूर तक साथ गए। चीफ़ जस्टिस भी श्मशानभूमि तक जाना चाहते थे पर लोगों के मना करने पर वे बीच ही में से चले गए। रास्ते में एलफिंस्टन, मेडि-कल और विलसन कालेजों के और आर्यन सोसायटी हाई-स्कूल के विद्यार्थी आ मिले और सब चेष्टा करते थे कि शव के उठाने का अवसर मिले। रानडे को विद्यार्थियों से बड़ा प्रेम था। उनसे वे सदा प्रसन्नता से मिलते थे और उनकी उन्नति के साधन सदा सोचा करते थे। जिस तरफ से मुर्दा जाता, हिंदू, मुसलमान, पारसी जो गाड़ियों पर सवार रास्ते में मिलते गाड़ी से उतर जाते। १२ बजे तक सब लोग मरघट पर पहुँचे। चंदन की लकड़ियों पर शव रखा गया, उनके सौतेले भाई नीलकंठ राव ने दाह-संस्कार किया। घर के लोगों ने पौराणिक रीति से अंत्येष्टि क्रिया की परंतु प्रार्थना-समाज के (जिसके रानडे सभापति थे) सभासदों ने अपने ढँग पर संस्कार किया। दोनों संस्कार एक ही समय पर हुए। एक भ्रमात्मक किंवदंती मुसलमानों में उस दिन फैल गई कि इस मुर्दनी में मुसलमानों का रहना मना है। इस

कारण मुसलमान नहीं आए। रानडे के मुसलमान मित्रों को बड़ा दुःख हुआ पर यह भ्रम दूर कर दिया गया। सर भालचंद्र कृष्ण और मिस्टर वैद्य, हेडमास्टर आर्यन सोसायटी हाईस्कूल ने शोक-प्रकाशक व्याख्यान दिए। जब शव जल चुका तब राख दूध से बुझाई गई और उनकी बहिन के इच्छानुसार प्रयाग लाकर त्रिवेणी में उसका प्रवाह किया गया।

सारे देश में समाचार फैला। तार और चिट्ठियाँ आनी शुरू हो गईं जिनकी संख्या एक सहस्र कही जाती है। सहानुभूति प्रकट करनेवालों में बड़े लाट लार्ड कर्जन, बंबई के लाट लार्ड नार्थकोट, महाराजा गायकवाड़, महाराजा होलकर, महाराजा कोल्हापुर प्रभृति थे। वाइसराय ने अपने तार में लिखा था कि रानडे की मृत्यु से देश ने केवल एक प्रसिद्ध जज ही नहीं खोया परंतु ऐसे देशभक्त को खोया है जिसने अपना सारा जीवन प्रेमपूर्वक अपने देशवासियों की उच्च धार्मिक उन्नति और विद्या-वृद्धि में लगा दिया था।

समाचार-पत्रों ने रानडे के जीवन पर 'महामति रानडे', 'ऋषि रानडे', 'न्यायमूर्ति रानडे' शीर्षक बड़े बड़े लेख लिखे। यद्यपि अपने राजनैतिक विचारों के कारण वे भारतीय अँगरेजों में सर्वप्रिय नहीं थे परंतु इस समय उन्होंने भी मुक्त कंठ से इनकी योग्यता और उदारता स्वीकार की। एक पत्र ने लिखा कि यदि ये सरकारी नौकरी की तरफ प्रवृत्त न होते तो अपने समय के राममोहन राय होते।

अनेक नगरों में शोक प्रकट करने के लिये सभाएँ हुईं। जिस प्रकार हर दल के समाचार-पत्र इस शोक में सम्मिलित हुए उसी प्रकार हर दल के नेता सभाओं में आए। पूना की मीटिंग में श्रीयुत बाल गंगाधर तिलक, जिनसे सोशल कान्फरेंस के संबंध में रानडे से स० १८९५ में मत-भेद हुआ था, व्याख्यान देते हुए शोक से इतने विह्वल हो गए कि बोलना मुश्किल हो गया और वे बोलते बोलते बैठ गए। तिलक महाशय ने अपने 'मराठा' पत्र में रानडे के चरित्र की बृहत् समालोचना की जिसके एक अंश का यहाँ अनुवाद किया जाता है—

"सर्वज्ञ-विद्वत्ता, सार्वजनिक सहानुभूति और पवित्रतम देशहितैषिता रखनेवाले इस महापुरुष की मृत्यु से जाति की कितनी क्षति हुई है इसका अंदाजा करना कठिन है। वे यथार्थ में उन्नीसवीं शताब्दी के ऐसे पुरुष थे जिनको एक शताब्दी भी अपने पेट से, जिसमें सदा उत्पत्ति होती ही रहती है, कठिनाई से पैदा कर सकती है। उनकी मृत्यु से जनता ने एक प्रदर्शक, दिव्यद्रष्टा और मित्र खो दिया।"

बंबई के टाइम्स ऑव इंडिया ने, जो अँगरेजी का पत्र है, लिखा—"भारतवासियों में सबसे प्रबल और सबसे अधिक श्रद्धा-उत्तेजक पुरुष हम लोगों में से चल बसा। हम लोगों को गत शताब्दी के पूर्व भाग के इतिहास में राममोहन राय का दृष्टांत रानडे की समानता पाने के लिये ढूँढ़ना पड़ता है कि जिसमें अनेक प्रकार के गुण और भिन्न भिन्न विषयों की

योग्यता हो; जिसका राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक सब विषयों पर पूर्ण अधिकार हो और उसका प्रभाव पड़े। उनके मस्तिष्क की शक्तियाँ विलक्षण थीं। अंतिम शब्द जो उनके विषय में कहा जा सकता है वह यह है कि देश-सेवा में अब तक जितने आदमियों ने नाम पाया है उनमें से कोई भी इनके बराबर क्रोध और वैमनस्य से रहित नहीं था।"

दादाभाई नौरोजी ने, जो उनके गुरु थे, यह लिखा--मैंने इस समाचार को बड़े दुःख से सुना। मुझे यह बड़ी जातीय क्षति मालूम होती है। रानडे का सा दूसरा मिल ही नहीं सकता। उनका स्थान खाली रहेगा। सर्वसम्मति से समस्त भारत में वे प्रथम श्रेणी के भारतवासी थे, विशेषकर समाज-संशोधन के निरंतर कार्य में। उनका सारा मन और उनकी आत्मा भारत की भलाई के साथ गुथी हुई थी। कई देश-भक्त लोगों के वे पथ-प्रदर्शक और नेता थे। उनकी बुद्धि और सलाह पर आदमी भरोसा कर सकता था। जो उनका कुछ भी हाल जानता है उसको ऐसा मालूम होगा कि मानो उसके घर ही का आदमी मर गया। उनका आदर हर जाति और हर समाज में था। भारत की उन्नति के इतिहास में उनकी स्थिति निराली ही थी। यदि किसी कार्य में वे सरकारी नौकर होने के सबब से खुल्लमखुल्ला काम नहीं कर सकते थे तो उसमें भी कार्यकर्त्ता लोगों को उनसे बड़ी बुद्धि-मत्ता की सलाह मिलती थी।

रानडे की मृत्यु पर शोक प्रकट करने के लिये जितनी सभाएँ हुईं उनमें से दो बड़े महत्त्व की थीं। एक बंबई की जिसमें उस प्रांत के गवर्नर लार्ड नार्थकोट ने सभापति का आसन ग्रहण किया था और दूसरी पूना की जिसमें सर चार्ल्स आलिवंट, जो उस समय बंबई प्रांत की कौंसिल के सीनियर मेंबर थे, सभापति हुए थे। दोनों में हिंदू, मुसलमान और अँगरेज शरीक हुए थे। बंबई की सभा में हाईकोर्ट के चीफ जस्टिस सर लारेंस जेंकिंस ने और पूना की सभा में डाक्टर सेल्बी ने, जो आगे चलकर उस प्रांत के शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर हुए, बड़े करुणोत्पादक व्याख्यान दिए। चीफ जस्टिस साहब ने प्रायः वे ही बातें कहीं जो उन्होंने हाईकोर्ट में कही थीं— "रानडे न केवल योग्य और प्रसिद्ध जज थे बल्कि एक बड़े और भले आदमी थे जिनकी मृत्यु एक प्रकार से सामाजिक विपद् समझनी चाहिए। उनकी मृत्यु दुःखदायिनी है, जो एक प्रकार से दुःखांत नाटक की नाईं हुई। जिस छुट्टी में इतने वर्षों के परिश्रम के उपरांत कुछ विश्राम आवश्यक था और जिसके अनंतर हम सब लोग समझते थे कि वे फिर भले-चंगे होकर उसी उत्साह से कार्य करेंगे, जैसा वे किया करते थे, उस छुट्टी के आरंभ में ही वे अचानक चल बसे; मरे भी ऐसे समय में जब वे अपने देश के साहित्य की अमूल्य सेवा में लगे हुए थे, जब उनके देशवासियों के, जिनकी भलाई उनके हृदय में रहती थी, इतिहास का ऐसा कठिन समय आ गया

था कि उनकी बुद्धिमत्ता, दूरदर्शिता, सौम्यता और सहानुभूति की आवश्यकता थी। अपने जीवनकाल में उन्होंने अपने उत्कृष्ट उद्देशों और आशाओं में बड़ी सफलता प्राप्त की और जितनी प्रतिष्ठा, जिसकी उन्होंने कभी चाह नहीं की, उनकी की गई वह सचमुच उनके गुणों और उनकी योग्यता के कारण थी। अब वे चल दिए परंतु उनकी याद हमारी संरक्षित संपत्ति होगी क्योंकि वे अपने पीछे बहुमूल्य धन छोड़ गए हैं जो उनके सात्त्विक, निश्छल और उच्च जीवन का उदाहरण है"—इत्यादि।

डाक्टर सेल्बी ने, जो अपनी विद्वत्ता के लिये प्रसिद्ध थे, रानडे के विद्यानुराग की प्रशंसा की—"उनको सत्य की खोज की धुन थी और जो सत्य है उसी को वे मानते थे। उनके भाव विशाल थे"—इत्यादि।

बंबई और पूना की सभाओं ने निश्चय किया कि उन दोनों नगरों में उनके स्मारक बनाए जायँ। साथ ही यह भी निश्चय हुआ कि अपने अपने नगरस्थ स्मारक के लिये पूना के लोग दक्खिन भाग में और भारत के अन्य प्रांतों में धन एकत्र करें और बंबई के लोग बंबई नगर में और बंबई प्रांत के अन्य हिस्सों में। बंबई के स्मारक का रूप रानडे की एक मूर्ति है जिसका निर्माण प्रसिद्ध भारतवासी म्हात्रे ने किया है और पूना के स्मारक का रूप रानडे इंस्टीट्यूट नाम की संस्था है। इस इंस्टीट्यूट के लिये एक लाख रुपया जमा किया गया जिसमें से ८० हजार केवल दक्खिन प्रांत

का है और मध्यदेश ने ११०००) तथा बरारवालों ने २५००) जमा किया। शेष इधर उधर से आया। इस धन के ब्याज के अतिरिक्त म्युनिसिपल और लोकल बोर्डों और देशी रियासतों से भी वार्षिक आय हो जाती है जिससे यह संस्था चल रही है। १५ अक्तूबर १९१० को सर जार्ज क्लार्क ने (जो अब लार्ड सिडनहम हैं) इसको खोला। इस संस्था के उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

(१) देश में औद्योगिक, कला-कौशल संबंधी और वैज्ञानिक शिक्षा का प्रचार।

(२) अन्य देशों की ऐसी ऐतिहासिक, गणनात्मक और अन्य प्रकार की बातों को जमा करना जिनसे भारत की औद्योगिक उन्नति में लाभ हो।

(३) समय समय पर भारत की आर्थिक अवस्था, आवश्यकताएँ और आशाओं पर योग्य पुरुषों की समालोचनाओं को प्रकाशित करना।

(४) धन मिलने पर ऐसे विद्यार्थियों को जो विज्ञान, इंजिनियरिंग और अन्य कला-कौशल में योग्यता रखते हों और जिनकी रुचि भी इस ओर हो, विलायत, जापान और अन्य देशों में उन वस्तुओं का बनाना सीखने के लिये भेजना जिनके बनाने की सामग्री इस देश में बहुतायत से मिलती है और इस कारण जिनके बनाने में फायदा है।

(५) ऐसे विद्यार्थियों को भारत में लौटने पर इस बात की सुगमता प्रदान करना कि वे थोड़े थोड़े प्रयोगों द्वारा

निश्चय कर सकें कि जिन वस्तुओं का बनाना उन्होंने सीखा है उनके तैयार करने में वे कृतकार्य किस प्रकार हो सकते हैं।

(६) अन्य रीतियों द्वारा इस देश की औद्योगिक अवस्था को सुधारना।

इस संस्था में तीन विभाग हैं—

(क) कला-कौशल-प्रवर्त्तक रासायनिक प्रयोगशाला, जिसके लिये आरंभ ही में दस हजार रुपए का सामान आया था।

(ख) औद्योगिक विषय संबंधी संग्रहशाला, जिसमें एक पुस्तकालय है और एक अजायबघर है। पुस्तकों और अजायबघर की वस्तुओं का संग्रह ऐसा है जिससे भिन्न भिन्न देशों की कारीगरी और इस देश की भावी औद्योगिक उन्नति का पता लगता है। इस संबंध में किसी प्रकार की यदि कोई जिज्ञासा करना चाहे तो उसको उचित परामर्श देने का भी प्रबंध है।

(ग) छात्रवृत्ति कोष जिससे उन विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति देने का प्रबंध किया जाता है जो प्रयोगशाला में काम समाप्त कर चुकते हैं। जिस रोजगार की ओर उनकी प्रवृत्ति होती है उसके संबंध में भारत के भिन्न भिन्न भाग में जाकर उनको अनुसंधान करना पड़ता है। अपने देश में घूम आने के बाद यदि वे विदेश जाना चाहें तो उसका भी प्रबंध किया जाता है।

इस स्मारक का सबसे उपयोगी अंग उसकी प्रयोगशाला है। इसका एक अवैतनिक डाइरेक्टर होता है। एक सहायक डाइरेक्टर भी नियुक्त होता है जो विज्ञान में एम०ए० होता

है। इसमें जो विद्यार्थी प्रयोग करते हैं उनके भोजनादि का व्यय दिया जाता है। अभी तक सीमेंट, तेल, साबुन, मोमबत्ती, दियासलाई, चीनी इत्यादि संबंधी उद्योगों का प्रयोग सिखलाया जाता है। इस समय इसका प्रबंध फर्ग्युसन कालेज के एक अध्यापक के अधीन है। इस स्मारक का यश माननीय गोखले को है क्योंकि उन्होंने इसके लिये बड़ा परिश्रम किया था।

उनका एक स्मारक मद्रास में है। इसका नाम रानडे पुस्तकालय है। इसकी नींव मद्रास-निवासियों ने २४ जुलाई १९०४ को माननीय गोखले से दिलवाई थी। इस पुस्तकालय में न केवल पुस्तकें और समाचार-पत्र आते हैं बल्कि इसके साथ एक साउथ इंडिया एसोसिएशन है जिसमें इतिहास, अर्थ-शास्त्र, राजनीति, उद्योग और विज्ञानशास्त्र संबंधी पठन-पाठन और अनुसंधान होता है। इस समय तक इस संस्था द्वारा इतिहास और अर्थशास्त्र संबंधी संतोषजनक कार्य हुआ है।

इनके साथ साथ अनेक स्मारकों की चर्चा अन्य स्थानों में भी उठाई गई थी। अहमदाबाद के सोशल कान्फरेंस के अधिवेशन में समाज-संशोधन संबंधी स्मारक बनवाने का विचार था परंतु उसका कुछ विशेष हाल सुनने में नहीं आया। हमारे देश में जितने उत्साह से स्मारकों का प्रस्ताव उठाया जाता है उतने उत्साह से काम नहीं होता। इसके अनेक कारण हैं। एक तो हम लोगों का जोश प्रायः क्षण-भंगुर होता है। दूसरे अनेक धन देनेवाले वादा करके नहीं देते।

तीसरे ऐसे लोगों के स्मारक बनाने की चर्चा अधिक उठती रहती है जिनके द्वारा लाभ के बदले हानि अधिक हुई है और चौथे अच्छे कार्यकर्ताओं का अभाव है। रानडे का सबसे बड़ा स्मारक माननीय गोखले थे। ईंट पत्थर के स्मारक बना ही करते हैं परंतु रानडे के कीर्ति-भवन के दो स्तंभ सदा स्मरणीय रहेंगे। एक श्रीमती रानडे और दूसरे श्रीयुत गोखले। इन दोनों को देशभक्ति के लिये रानडे ही ने तैयार किया था। श्रीमती रानडे की जीवन-चर्चा ऊपर आ चुकी है। यहाँ गोखले महाशय का अत्यंत संक्षिप्त वर्णन अनुपयुक्त न होगा, विशेषकर उनके जीवन का वह अंश जिस पर रानडे का प्रभाव पड़ा था।

गोपाल कृष्ण गोखले

इनका जन्म १८६६ ई० में जिला रत्नागिरी में हुआ था। एफ० ए० पास करने के बाद उन्होंने एल्फिंस्टन (बंबई) कालेज से १८८४ में बी० ए० पास किया। उस समय उनकी अवस्था केवल १८ वर्ष की थी। थोड़े दिन न्यू इँग्लिश स्कूल में अध्यापक रहने के बाद उन्होंने अपना जीवन फर्ग्युसन कालेज की सेवा करने के लिये समर्पण कर दिया। इस कालेज का प्रबंध डेकन ऐज्यूकेशन सोसायटी के अधीन है। गोखले इसके स्थायी सभासद हुए। स्थायी सभासदों को प्रतिज्ञा करनी पड़ती है कि २० वर्ष तक कालेज में ७५) मासिक पर कार्य करेंगे। २० वर्ष के बाद ३०) मासिक पेंशन मिलती है।

गोखले इतिहास और अर्थशास्त्र के अध्यापक हुए परंतु कभी कभी उनको अँगरेजी साहित्य और गणित भी पढ़ाना पड़ता था। पढ़ाई के काम के साथ साथ आप छुट्टियों में इधर उधर जाकर कालेज के लिये भिक्षा माँगते थे। कहा जाता है कि थोड़ा थोड़ा करके उन्होंने इसी प्रकार २ लाख जमा किया था। चंदा माँगने के लिये बाहर जाने के कारण प्राय: प्रत्येक जिले के अग्रगण्य लोगों से उनसे परिचय हो गया था।

कालेज की सेवा के साथ साथ उन्होंने अन्य संस्थाओं में भी काम करना आरंभ कर दिया। उन दिनों दक्खिन प्रांत में रानडे की कार्य-कुशलता, विद्वत्ता और देशभक्ति की बड़ी चर्चा थी। रानडे को नवयुवक लोगों से बड़ा प्रेम था। किसी होनहार युवा को देखकर वे उसको तुरंत अपनी ओर आकर्षित कर लेते थे। रानडे और गोखले अनेक संस्थाओं के संबंध में एक दूसरे से मिलने लगे। गोखले की श्रद्धा उन पर इतनी बढ़ गई कि वे सब कार्य उनसे पूछकर करने लगे। सार्वजनिक सभा उन दिनों राजनैतिक कार्यों में बड़ी प्रसिद्ध थी। गोखले उसके उपमंत्री थे। जब मंत्री का पद खाली हुआ, लोगों ने गोखले को इस पद पर चुनने का प्रस्ताव किया। रानडे ने उनकी योग्यता की परीक्षा के लिए एक सरकारी विभाग की रिपोर्ट देकर उसका सारांश लिखने के लिये कहा। रिपोर्ट का विषय कठिन था। गोखले अपने जीवनकाल में अनेक बार इस कथा को बड़े अभिमान से कहा

करते थे कि रानडे ने उनका लेख देखकर कहा था "हाँ, इससे काम चल जायगा।" सार्वजनिक सभा की एक त्रैमासिक पत्रिका थी। इसमें राजनैतिक विषयों पर विचारपूर्ण लेख निकला करते थे, सरकारी रिपोर्टों की समालोचना और ऐतिहासिक तथा अर्थशास्त्र संबंधी सिद्धांतों की विवेचना होती थी। इसके अतिरिक्त सभा की ओर से सरकारी नियमादि पर गवर्नर की सेवा में मेमोरियल भेजे जाते थे। गोखले सभा की पत्रिका के संपादक थे और मेमोरियल आदि भी लिखा करते थे। यह कार्य रानडे और गोखले मिलकर किया करते थे। वे घंटों बैठकर सरकारी रिपोर्टों को पढ़ते, जिस विषय की रिपोर्ट होती उस विषय के अन्य ग्रंथ भी मँगाकर पढ़े जाते। कभी कभी अन्य प्रांतों और दूसरे देशों की भी सरकारी रिपोर्टें मँगाई जातीं। गोखले लेख लिखकर रानडे को दिखलाते। उसका संशोधन होता या लेख के संतोषजनक न होने पर रानडे स्वयं लिख देते। लेखों का विषय प्रायः अर्थ संबंधी अथवा शासन संबंधी हुआ करता था। उन्हीं दिनों सुधारक नाम का पत्र अँगरेजी और महाराष्ट्र भाषा में निकाला गया। अँगरेजी विभाग के संपादन का कार्य गोखले के सुपुर्द हुआ। कभी कभी गोखले महाराष्ट्र भाषा में भी, जिसके लिखने और बोलने का उनको अच्छा अभ्यास था, लेख लिखते थे। उन्होंने महाराष्ट्र भाषा में शिवाजी की एक काल्पनिक कहानी लिखी थी जिसमें महाराष्ट्र

वीर के औरंगजेब के पंजे से निकलने पर तीर्थस्थानों में घूमते हुए जगन्नाथपुरी जाने की कथा थी।

४ वर्ष तक गोखले सुधारक पत्र के संपादक, ६ वर्ष तक पूना सार्वजनिक सभा के मंत्री और सभा की पत्रिका के संपादक रहे। बंबई की प्रांतिक कान्फरेंस के भी वे ४ वर्ष तक मंत्री रहे। १८९५ की कांग्रेस के, जो पूना में हुई थी, मंत्री-दल में वे भी थे।

अब तक गोखले की प्रसिद्धि पूना नगर के बाहर केवल बंबई प्रांत तक फैली थी। परंतु १८९७ के अप्रेल महीने में ये पूना की दक्खिन सभा की ओर से वेलबी कमीशन को भारत की यथार्थ आर्थिक अवस्था बतलाने के लिये विलायत गए। इस काम के लिये कई संस्थाओं से भारत के अन्य अग्रगण्य नेता भी भेजे गए थे। गोखले अभी ३१ वर्ष के युवा थे। कमीशनवालों ने भारत के प्रतिनिधियों की बड़ी कड़ी परीक्षा ली। कई पुराने नेताओं के इजहार बिगड़ गए पर गोखले प्रत्येक प्रश्न का उत्तर बड़ी योग्यता से देते थे। इससे उनका नाम सारे भारतवर्ष में फैल गया। जो वक्तव्य गोखले ने कमीशन के लिये लिखा था उसमें रानडे ने बड़ी सहायता दी थी। ऐसे समय में, जब कि गोखले का नाम देश में फैल रहा था, एक ऐसी घटना हुई कि जिसका उन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। जब वे विलायत में थे, बंबई में प्लेग फैला। इसके पहले यहाँ कभी यह महामारी नहीं फैली थी। इसलिये राजकीय

कर्मचारी और प्रजा दोनों घबरा गए। प्लेग से बचाने के लिये सरकार ने जो नियमादि बनाए और जो कार्रवाइयाँ कीं उनसे देश में बड़ा असंतोष फैला। यहाँ तक कि दो यूरोपियन अफसर, जो गवर्नमेंट हौस के भोज से लौट रहे थे, मार डाले गए। इससे विलायत में बड़ी चिंता फैली। इधर गोखले के मित्रों ने उनको असंतोष की अवस्था लिखनी शुरू की। गोखले ने जवानी के जोश में आकर इस विषय पर वहाँ आंदोलन आरंभ कर दिया। विलायत के समाचार-पत्रों में लेख लिखे, पार्लियामेंट के सभासदों को सुनी हुई सब व्यवस्था सुनाई। इस पर बंबई सरकार गोखले से अत्यंत अप्रसन्न हुई और उसने चाहा कि जो शिकायत उन्होंने विलायत में की उसको वे सिद्ध करें। इधर गोखले के मित्रों ने, जिनके पत्रों के आधार पर उन्होंने आंदोलन उठाया था, उनसे विनयपूर्वक प्रार्थना करनी शुरू की कि हमारा नाम न बतलाया जाय। जो मित्र प्रति सप्ताह पत्र पर पत्र लिखकर भेजा करते थे उनमें से एक भी साहसी न निकला। गोखले के हिंदुस्तान लौटने का समय आ गया। जो युवा बड़े उत्साह से देश-सेवा के लिये विलायत गया था, जो अपना कर्त्तव्यपालन करके, जिसके लिये वह भेजा गया था, अपना सिक्का जमा सका वह अब स्वदेश में लौटकर सरकारी कोप का कवर बननेवाला है। उसके सब मित्रों ने उसको छोड़ दिया है। चारों ओर से खबर सुनाई दे रही है कि वह युवा जहाज से उतरते ही पकड़ा

जायगा। गोखले के सामने अब तीन रास्ते थे। या तो वे अपने मित्रों का नाम बतलाकर आप बच जाते या आप सजा पाने के लिये तैयार हो जाते या सरकार से क्षमा माँग लेते।

जिस समय जहाज बंबई पहुँचा, उनका एक भी मित्र उनसे मिलने नहीं पहुँचा। रानडे उस समय बंबई हाईकोर्ट के जज थे परंतु तिस पर भी वे निर्भय होकर उनसे जहाज पर मिले। अंत में गोखले ने तीसरे उपाय का ही अवलंबन किया और सरकार को क्षमा-पत्र लिख दिया। कहा जाता है कि ऐसा करने की सलाह रानडे ने दी थी। कोई दूसरा आदमी ऐसी बड़ी घटना होने पर देश-सेवा छोड़ देता। परंतु गोखले ने प्लेग से पीड़ित लोगों की सेवा के लिये स्वयंसेवक लोगों की समिति बनाई और इसमें बड़े उत्साह से काम करना शुरू किया। सरकार ने एक प्लेग कमीशन बैठाई। उसके गोखले भी सभासद चुने गए।

१८९९ के आरंभ में वे बंबई की कानून बनानेवाली कौंसिल के सभासद चुने गए और दो वर्ष तक इस कौंसिल में रहे। १९०१ में वे बड़े लाट की कौंसिल के सभासद चुने गए। उन्हीं दिनों रानडे की मृत्यु हुई थी। गोखले ने फर्ग्युसन कालेज के प्रसिद्ध प्रिंसिपल रघुनाथ पुरुषोत्तम परांजपे को, जो उनके शिष्य हैं, उस समय एक पत्र लिखा था; जिसका कुछ अनुवाद आगे दिया जाता है—

जब मैंने आपको अपना पिछला पत्र लिखा था उसके अनंतर मेरे महान् गुरु रानडे इस संसार से चल बसे। उनकी मृत्यु से मेरे जीवन पर क्या प्रभाव पड़ेगा इसको मैं शब्दों में प्रकट नहीं कर सकता। मुझे मालूम होता है कि मानो मेरे जीवन के सामने अचानक अँधेरा छा गया है और देश-सेवा करने से जो संतोष हुआ करता है उसका अत्युत्तम भाग, थोड़े दिनों के लिये, दूर हो गया है। मैं अवश्य मानता हूँ कि यह मेरा धर्म है, जैसा कि अन्य लोगों का भी है, कि हम लोग युद्ध जारी रखें धीरे ही धीरे सही, परंतु विश्वास और आशा के साथ, जिसमें उस झंडे को जो उन्होंने उठाया था अपने निर्बल हाथों से खड़ा रखें और उन आदर्शों को जिनके लिये उन्होंने अपना अद्वितीय जीवन दिया प्रेम और श्रद्धा से हृदय में रखें। परंतु यह सब मैं स्वप्न की बातें कर रहा हूँ। मुझे नहीं मालूम कि मेरे ऐसे आदमी इस काम का थोड़ा अंश भी कर सकेंगे। जो कुछ हो, प्रयत्न अवश्य किया जायगा और तब हम मनुष्यों की जिम्मेदारी जाती रहेगी।

गोखले ने बड़े लाट की कौंसिल में बड़े परिश्रम, उत्साह और योग्यता से काम किया। वार्षिक हिसाब के लेखे पर जो विचार वे प्रकट किया करते थे उससे कौंसिल पर बड़ा प्रभाव पड़ता था। वे प्रत्येक विषय पर तैयार जाते थे। जिस विभाग की वे त्रुटियाँ बतलाते थे उस विभाग के सभासद सदा चौकन्ने रहते थे। बजेट के संबंध में उन्होंने जितने प्रस्ताव पेश

किए थे प्रायः सब स्वीकार किए गए थे। यों तो कौंसिल में उनके सब काम महत्त्व के हुए हैं परंतु उनकी कीर्ति उनके उस प्रस्ताव के लिये इतिहास में अंकित होगी जिसके द्वारा १६१२ में उन्होंने इस देश में प्रत्येक बालक को शिक्षा प्राप्त करने पर बाध्य करने की प्रेरणा की थी। यह प्रस्ताव उस समय पास नहीं हुआ परंतु देश भर में उनके इस प्रस्ताव के कारण जाग्रति हो गई।

१६०४ के अंत में उन्होंने फर्ग्युसन कालेज छोड़ दिया। गोखले पूना की म्युनिसिपैलिटी के १६०५ में सर्वसम्मति से सभापति चुने गए और दो तीन वर्ष तक बड़ी सुंदरता से वे काम करते रहे।

१६०५ में गोखले कांग्रेस के सभापति चुने गए जो उस वर्ष बनारस में हुई थी। बनारस कांग्रेस के बाद वे फिर विलायत गए। कहा जाता है कि लार्ड मार्ले और लार्ड मिंटो के समय में शासन में जितने सुधार हुए उनमें से बहुत से गोखले के बतलाए हुए थे, क्योंकि वे विलायत में सेक्रेटरी ऑव स्टेट और अन्य उच्च पदाधिकारियों से बहुत मिला करते थे। सेक्रेटरी ऑव स्टेट की कौंसिल में दो हिंदुस्तानियों का होना, बड़े लाट की कौंसिल में और प्रांतिक कौंसिलों में भी एक एक हिंदुस्तानी का चुना जाना, कौंसिलों में सर्वसाधारण के प्रतिनिधियों की संख्या का बढ़ना, उनको नए प्रस्ताव पेश करने का अधिकार देना इत्यादि सुधार गोखले के कारण हुए

हैं। १९०७ में गोखले ने संयुक्तप्रांत और पंजाब के अनेक नगरों में यात्रा की। उस समय राजनैतिक विषयों पर दो दल हो गए थे। एक गरम दल और दूसरा नरम दल। छोटे बच्चों पर गरम दल की गरमी चढ़ रही थी। गोखले ने अपनी इस यात्रा में हिंदू मुसलमानों में मेल, स्वदेशी, विद्यार्थियों के कर्त्तव्य इत्यादि विषयों पर व्याख्यान दिए। जिस स्थान पर वे जाते थे वहाँ हिंदू और मुसलमान दोनों उनका आदर करते थे और नरम तथा गरम दलवाले दोनों उनकी बातें श्रद्धा से सुनते थे। इस यात्रा का कष्ट उठाकर गोखले ने विद्यार्थी-समाज पर बड़ा उपकार किया था क्योंकि उन दिनों अनेक स्थानों पर विद्यार्थिगण देश के नेताओं का निरादर करने पर उतारू हो गए थे।

१९१२ में गोखले दक्षिण अफ्रिका गए। इस यात्रा में उनका तात्पर्य यह था कि भारतवासियों पर वहाँ जो अन्याय हो रहा था उसको दूर करें। इस बड़े महत्त्व के काम में भारतीय गवर्नमेंट ने और विशेषकर लार्ड हार्डिंग ने भी उनकी बड़ी सहायता की थी। गोखले के दक्षिण अफ्रिका जाने से वहाँ के लोगों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। वहाँ के भारतवासियों में बल और आशा का संचार आ गया और वहाँ के उच्च कर्मचारियों से उन्होंने स्वयं भेंट की।

इस यात्रा में उनसे और कर्मयोगी गाँधी से बड़ा स्नेह हो गया था। वहाँ से आकर उन्होंने अपने व्याख्यानों में कहा

था कि उनको अपने जीवन में केवल तीन महापुरुष ऐसे मिले जिनके सामने जाने ही से मनुष्य के मन में बुरे विचार नहीं आते। एक दादाभाई, दूसरे रानडे और तीसरे गाँधी।

१८९६ में जब गाँधीजी भारतवर्ष में दक्षिण अफ्रिका के भारतवासियों की कठिनाइयों पर विचार करने के लिये आए थे उसी समय उनके मन पर गोखले का बड़ा प्रभाव पड़ा था। एक लेख में वे लिखते हैं—मैं (फर्ग्युसन) कालेज में उनके घर पर उनसे मिला। मुझे मालूम होता था कि हम लोग मानो पुराने मित्र अथवा मेरी माता वर्षों के वियोग के पीछे मिली है। उनकी शांत मूर्ति ने एक क्षण में मुझे शांत कर दिया। मेरे और दक्षिण अफ्रिका में मेरे कार्य के संबंध में छोटी छोटी बातों पर भी जो उन्होंने मुझसे प्रश्न किए, उनके कारण मेरे हृदय में उन्होंने स्थान पा लिया। जब मैं बिदा होने लगा मैंने अपने मन में कहा, "बस तुम्हीं मेरे आदर्श हो।" उस समय से गोखले ने मुझे अपने मन से दूर नहीं किया। १९०१ में दक्षिणी अफ्रिका से जब मैं दूसरी बेर आया तब हम लोगों का संबंध और भी घनिष्ठ हो गया; मेरे भोजन छाजन, चलने, बोलने आदि की भी उनको चिंता रहती। मेरी माँ भी गोखले से अधिक मुझसे प्यार नहीं करती थी। जहाँ तक मैं जानता हूँ, वे मुझसे कोई बात नहीं छिपाते थे। हम लोगों में आँखें चार होते ही प्रेम हो गया था और उसको उन्होंने १९१३ की तीक्ष्ण परीक्षा में भी

निभाया। राजनैतिक कार्यकर्ताओं में जितने गुण होने चाहिएँ मैंने सब उनमें पाए—बिल्लौर की सी स्वच्छता, मेमने की सी नम्रता, शेर की सी वीरता और दया तो इतनी कि वह एक प्रकार का दोष हो गई थी। राजनैतिक क्षेत्र में वे मेरे लिये सबसे ऊँचे आदर्श थे और अब तक हैं—यह नहीं कि हम लोगों में मत-भेद नहीं था। १६०१ में भी सामाजिक विषयों पर, जैसे विधवाविवाह पर, हम लोगों में मत-भेद था। पश्चिमी सभ्यता पर भी हम लोगों का मत एक नहीं था। अहिंसा के संबंध में मेरे जो अति तक पहुँचे हुए विचार हैं उनका तो वे स्पष्ट विरोध करते थे। पर ऐसे मत-भेद की न वे परवाह करते थे न मैं करता था। हम लोगों को कोई बात भी अलग नहीं कर सकती थी। यह सोचना पाप होगा कि यदि वे आज (१६२१) जीते होते तो क्या होता। मैं जानता हूँ कि मैं उनके अधीन होकर काम करता। इसी लेख में उन्होंने लिखा है कि १८८८ में मैं दादाभाई के चरणों में गिरा परंतु वे मुझसे बहुत दूर मालूम होते थे। मैं उनके पुत्र के सदृश हो सकता था, शिष्य नहीं। शिष्य पुत्र से बढ़कर होता है। शिष्य होना दूसरा जन्म ग्रहण करना है, प्रसन्नता-पूर्वक अपने को समर्पण करना है। १८६६ में मैं दक्षिणी अफ्रिका के संबंध में भारत के सब नेताओं से मिला था। जस्टिस रानडे को देखकर श्रद्धा और डर का भाव पैदा होता था। उनके सामने मुझे बोलने की हिम्मत नहीं पड़ती थी।

बद्रुद्दीन तय्यबजी ने मुझसे पिता के तुल्य बरताव किया और कहा कि सब काम रानडे और फिरोजशाह से पूछकर करो। फिरोजशाह मेरे मुरब्बी हो गए। जो वे चाहते थे वही करना पड़ता था। "आपको २६ सितंबर को व्याख्यान देना होगा और समय पर आना होगा।" मैंने आज्ञा पालन की। उन्होंने कहा—"२५ को संध्या समय मुझसे मिलना होगा।" मैं मिला। उन्होंने पूछा—"आपने अपना व्याख्यान लिख डाला?" मैंने कहा—"जी नहीं।" वे बोले—"हे नवयुवक, इससे काम नहीं चलेगा, क्या आज रात को लिख सकते हो?" अपने मुनशी की ओर देखकर कहा—"मुनशी, आज तुम मिस्टर गाँधी के पास जरूर जाओ और उनसे व्याख्यान ले लो। रात भर में वह छप जाय और मेरे पास एक प्रति भेज दी जाय।"

तब मुझसे कहा—"गाँधी, लम्बी स्पीच मत लिखना; आप बंबई के श्रोताओं को नहीं जानते, वे लंबे व्याख्यान नहीं सुन सकते।" मैंने उनके आगे सिर झुकाया। बंबई के शेर ने मुझे आज्ञापालन की शिक्षा दी।

गोखले का सबसे बड़ा काम सर्वेंट ऑव इंडिया सोसायटी को स्थापित करना था। यह सोसायटी १२ जून १६०५ में पूना में स्थापित हुई थी। इसका उद्देश्य यह है कि शिक्षित लोग देश के काम के लिये तैयार किए जायँ। जो लोग इसमें शरीक होते हैं उनको त्याग का व्रत लेना पड़ता है, देश की अवस्था जानने के लिये भिन्न भिन्न स्थानों में भ्रमण करना

पड़ता है, राजनैतिक और सामाजिक विषयों के ग्रंथों को नियम-बद्ध पढ़ना पड़ता है, जहाँ कांग्रेस अथवा कान्फरेंस इत्यादि होती है वहाँ जाकर पहले ही से काम करना पड़ता है, महामारी, दुर्भिक्ष इत्यादि से पीड़ित लोगों की सेवा करनी पड़ती है। इसके सभासदों को सात व्रत लेने पड़ते हैं—

(१) मेरे विचारों में देश का स्थान पहले होगा और उसकी सेवा में मैं उत्तमोत्तम गुण, जो मुझमें हैं, लगाऊँगा।

(२) देश की सेवा करने में मैं अपना लाभ नहीं सोचूँगा।

(३) मैं भारतवासी मात्र को अपना भाई समझूँगा, और जाति और धर्म के भेद को ध्यान में न लाकर सबकी उन्नति के लिये काम करूँगा।

(४) मैं अपना और अपने कुटुंब का पालन-पोषण उतने धन से कर लूँगा जो 'सोसायटी' मुझे दे सकेगी। मैं अपने समय का एक अंश भी रोटी कमाने में नहीं लगाऊँगा।

(५) मैं अपना जीवन पवित्र रखूँगा।

(६) मैं व्यक्तिगत झगड़ों में नहीं पड़ूँगा।

(७) मैं सोसायटी के नियमों को सर्वदा दृष्टि में रखूँगा और पूर्ण रूप से इसके उद्देश्यों की वृद्धि करूँगा। कोई बात ऐसी नहीं करूँगा जो इसके उद्देश्यों से विपरीत हो।

१९१३ में गोखले पब्लिक सर्विस कमीशन में काम करते रहे। इस कमीशन के साथ वे भारत के कई स्थानों में और फिर इँग्लैंड गए। यह कमीशन इस उद्देश्य से बनाई गई थी

कि भारतवासियों को उच्च पदाधिकारी बनाने के प्रस्ताव पर विचार करे। जो लोग इजहार देने जाते थे उनमें से कुछ तो भारतवासियों को सर्वथा या कई अंशों में अयोग्य समझते और कुछ लोग उनको पूर्णतया योग्य समझते थे। गोखले ने एक बेर अपने मित्रों से कहा था कि इस कमीशन में बैठकर दिन प्रति दिन यही सुनना—कि भारतवासी अयोग्य हैं—बड़ा दु:खदायी हो जाता है; परंतु ऐसे लोगों की गोखले तीक्ष्ण परीक्षा लेते। इस कमीशन के सभासदों में कई कानून जाननेवाले लोग थे पर उन्होंने कई बेर मुक्त कंठ से स्वीकार किया कि गोखले के प्रश्न, जो वे साक्षियों के प्रति करते थे, बड़े मार्मिक होते थे। कमीशन का काम करते हुए वे कई बेर बीमार हुए, एक बेर विलायत में उनके बचने की आशा नहीं थी परंतु उनको तो अपना शरीर स्वदेश ही में छोड़ना था। उनको खेद केवल इस बात का रह गया कि वे इस कमीशन का फल न देख सके।

कमीशन का काम वे कर ही रहे थे जब उनको के० सी० आई० ई० की उपाधि प्रदान हुई। उस समय वे विलायत में थे। उन्होंने धन्यवाद देते हुए तुरंत लिख भेजा कि उनको यह सम्मान स्वीकार नहीं है। उनको यह पसंद नहीं था कि वे 'सर' गोपाल कृष्ण गोखले कहलाते। यह बात भी प्रसिद्ध है कि एक बेर उनको सेक्रेटरी ऑव स्टेट की कौंसिल की मेंबरी प्रदान की गई थी परंतु उन्होंने उसको स्वीकार नहीं किया।

गोखले का देहांत शुक्रवार १९ फरवरी १९१५ को शांतिपूर्वक हुआ। उनकी अवस्था ४९ वर्ष की थी। अंत समय तक उन्होंने काम किया। शुक्रवार के सबेरे ही से उनको ऐसा मालूम होने लगा था कि उनकी मृत्यु निकट आ गई है। उसी दिन उन्होंने अपने मित्रों, बहिनों और लड़कियों से बिदाई ली, अपने कागज-पत्रों के संबंध में आवश्यक परामर्श किया। रात के नौ बजे अपने नौकरों से कहा—"जीवन के इस ओर का आनंद तो मैंने ले लिया अब मुझे उस ओर जाकर देखना है।" गोखले के जीवन पर रानडे का बड़ा प्रभाव पड़ा था। प्रत्येक विषय पर अध्ययन और मनन करके कुछ कहना, दूसरे पक्षवाले के तर्क को समझकर उसको ठीक ठीक कहना और तब प्रेमपूर्वक उसका उत्तर देना, रात दिन देशहित के कामों में लगे रहना; ये गुण रानडे ही की शिक्षा और उदाहरण से उनमें आए थे।

गोखले से अधिक रानडे की जीवनी लिखने की योग्यता किसी दूसरे में नहीं थी। वे उनके गृहस्थ जीवन और सांसारिक जीवन से भली भाँति परिचित थे। बहुत दिनों तक उनकी इच्छा थी कि रानडे का चरित्र लिखें परंतु अन्य कार्यों की भरमार ने उन्हें समय नहीं दिया।

गोखले को जब चिंता घेर लेती और उनका काम में मन न लगता तब वे रमाबाई के पास जाकर रानडे की चर्चा छेड़ देते, दोनों की आँखों में आँसू आ जाते और इस तरह दिल बहल जाता।

रानडे और गोखले, दोनों में से इतिहास की दृष्टि में किसने देश की सेवा अधिक की, यह प्रश्न प्रायः उठा करता है। लोग इसका मनमाना उत्तर भी दे देते हैं। जिस प्रकार पहाड़ की ऊँचाई पर चढ़े हुए दो आदमी, जिनमें एक लंबा हो और दूसरा नाटा, नीचे से देखनेवाले को समान कद के मालूम होते हैं उसी प्रकार हमारी दृष्टि में दोनों का दर्जा बराबर है। दोनों का चरित्र उत्कृष्ट था, दोनों के आदर्श ऊँचे थे। कम सोना, जितनी देर जागना काम करना, पुस्तकों से अनुराग, दूसरे पक्षवालों से प्रेमपूर्वक मिलकर उनको अपनी ओर खींचने का प्रयत्न करना, शिक्षाप्रचार की धुन, सरकार और जनता में समान आदर पाना, तिस पर भी स्वतंत्रता-पूर्वक दोनों के गुण-दोष बतलाना—इन बातों में गुरु और शिष्य बराबर थे। रानडे सरकारी नौकर थे, उनके समय का बहुत सा हिस्सा कचहरी जाने अथवा फैसला लिखने में लग जाता था। कौंसिल के वे सभासद भी हुए तो सरकार की ओर से। सर्वसाधारण की ओर से उनको चुने जाने का अवसर ही नहीं मिला।

गोखले ने निर्धनता का व्रत लिया था। दो कन्याओं के, जिनमें से एक ने बी० ए० तक शिक्षा पाई, निर्वाह की फिक्र तो थी ही, भाई की मृत्यु के उपरांत उन पर भतीजों, भतीजियों और भांजों के पालन-पोषण और शिक्षा का भार भी आ पड़ा था।

रानडे को धन की कमी नहीं थी। पुस्तकें और समाचार-पत्र पढ़कर सुनानेवाले और उनके पत्रों का उत्तर देनेवाले वेतनभोगी थे। गोखले अपने पत्रों का उत्तर शीघ्रता के साथ ऐसे समय में लिखने बैठते जब डाकगाड़ी छूटने में थोड़ी देर रह जाती।

दोनों के स्वभाव और गुणों में थोड़ा सा अंतर अवश्य था। गोखले अपने चित्त को एकाग्र तभी कर सकते थे जब सब दर्वाजे बंद हों, स्थान एकांत हो, कहीं से आवाज न आती हो और कोई उस समय मिलने न आवे। इससे वे रात को काम करना पसंद करते थे और यही उनके रोगग्रस्त होने का कारण हुआ। रानडे के काम में कोई विघ्न डाल ही नहीं सकता था। लिखने, पढ़ने, सोचने के समय कोई आ जाय, बच्चे भी शोर मचाएँ, उनका मस्तिष्क निर्विघ्न काम करता था। गोखले कभी कभी उन लोगों से, जो काम के समय आ जाते, रूखा बर्ताव भी करते थे परंतु पीछे पछताते थे और नौकरों तक से क्षमा माँगने लगते थे।

यदि वाद-विवाद में उन पर कोई व्यक्तिगत कटाक्ष कर बैठता तो उसको वे सहन नहीं कर सकते थे। देश-सेवा करनेवाला इससे बच नहीं सकता। गोखले का जीवन रात दिन देश-संबंधी कार्यों में व्यतीत होता। इसलिए दूसरों से मत-भेद के अवसर भी बहुत आ जाते। जिनसे मत-भेद हुआ करता है वे प्रायः दो प्रकार के होते हैं, एक तो वे जो योग्यता-

पूर्वक तर्क करते हैं। ऐसे लोग गोखले का लोहा मान जाते थे। दूसरे प्रकार के लोग कड़ी और कड़वी बातें कहने और चरित्र पर कटाक्ष करने को युक्ति का स्थान देते हैं। ऐसे लोगों से गोखले बड़े दुःखी होते थे। रात दिन चिंता में पड़ जाते थे। उनके मित्र उनको बहुत समझाया करते थे कि छोटी छोटी बातों को ध्यान में नहीं लाना चाहिए, वे स्वयं भी अपनी त्रुटि को मानते थे पर यह उनका स्वभाव ही हो गया था। रानडे पर कटाक्षों का कुछ भी असर नहीं पड़ता था। कहा जाता है कि एक बेर जब रानडे विधवाविवाह पर आंदोलन कर रहे थे, एक छोटे दर्जे का आदमी उनके घर पहुँचा और अपने को देशसुधारक का पक्षपाती प्रकट करके रानडे से कहने लगा कि आप अपनी विधवा बहिन का विवाह मुझसे कर दीजिए। इसी प्रकार एक नाटक के अभिनय में रानडे के ढँग का एक सुधारक खड़ा किया गया। वह बहरा बनाया गया। एक विवाहिता स्त्री ने उससे आकर कहा—"मेरा पति मुझसे मार-पीट करता है, मैं उससे दुःखी हूँ।" इस पर बहरे सुधारक ने कहा—"दूसरा विवाह कर ले।"

रानडे इस प्रकार के आक्षेपों को शांति से सहन कर लेते थे। इसकी बातचीत भी नहीं करते थे, जिसका परिणाम यह होता था कि विरोधी अपने आप चुपचाप बैठ रहता था।

रानडे और गोखले दोनों अच्छे वक्ता थे परंतु गोखले अधिक प्रभावशाली थे। रानडे की वक्तृता गंभीर होती थी।

वे दार्शनिक दृष्टि से प्रत्येक विषय के तत्त्व का अनुसंधान करते थे। उनके विचार तत्त्ववेत्ता और दिव्यद्रष्टा के होते थे। गोखले की भाषा सरल और सुंदर होती थी। उनकी वाणी मधुर थी। रानडे के व्याख्यान से केवल विद्वान् और पंडित प्रसन्न होते थे, गोखले सबको प्रिय लगते थे। रानडे ने परिश्रम से वक्तृता देने की शक्ति प्राप्त की थी, गोखले में यह शक्ति परमेश्वरी देन थी। गोखले की सूरत शक्ल भी आकर्षित करती थी, रानडे देखने में भद्दे से मालूम होते थे।

गोखले ने अपना जीवन राजनीति के क्षेत्र को पवित्र करने में बिताया। यही उनका कार्यक्षेत्र था। रानडे राजनीति, शिक्षा, धर्म्म, समाज-सुधार, औद्योगिक उन्नति इत्यादि सब विषयों में अनुराग रखते थे और इन सब क्षेत्रों में काम करते थे और सबमें उनका कार्य उच्च श्रेणी का समझा जाता है।

---

(६) रानडे संबंधी कहानियाँ

(१) बुढ़िया का बोझ

एक दिन रानडे रास्ते में जा रहे थे। एक गरीब बुढ़िया लकड़ी का बोझ जमीन पर रखे खड़ी थी। बोझ इतना भारी था कि उस बेचारी के उठाए न उठता था। उनको सीधा-सादा देखकर उसने यह तो जाना नहीं कि ये हाईकोर्ट के जज हैं, समझी कोई मामूली आदमी होगा। कहने लगी—

"जरा मेरे बोझ को हाथ लगा दो।" उन्होंने तुरंत ही बोझ उठाकर उसके सिर पर रख दिया।

इस प्रकार की घटनाएँ उनके जीवन में अनेक बेर हुई थीं।

(२) पगड़ी गिर गई

पूना में एक दिन बरसात में रानडे टहलने गए। रास्ते में एक मोड़ थी। मोड़ की दूसरी तरफ से एक आदमी तेजी से दौड़ा आता था। रानडे को उसका इतना जोर से धक्का लगा कि उनकी पगड़ी गिर गई। उन्होंने तुरंत जमीन से पगड़ी उठा ली और उसको साफ करके सिर पर रख लिया। उस आदमी ने बहुत क्षमा-प्रार्थना की। रानडे ने उत्तर दिया कि इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है। यह तो केवल सड़क की एक घटना है।

(३) जज साहब का मुर्दा

राव बहादुर मदन श्रीकृष्ण पूना में खफीफा के जज थे। उनकी स्त्री का देहांत हो गया। वे जाति के खत्री थे। इस जाति के लोग पूना में बहुत कम हैं। परंतु वे जज थे, इसलिये उनकी कचहरी से जो लोग मुर्दनी में आए थे उनमें से ऊँची जाति के लोग मुर्दे को उठाकर ले गए। १५ ही दिन के बाद जज साहब का भी शरीर छूट गया। अब उनका मुर्दा उठाने के लिये कोई आदमी नहीं मिलता था। उस समय पूना में उनका एक लड़का और एक भाई था। मुर्दा उठाने के लिये ये दोनों काफी नहीं थे। ऊँची जाति के और लोगों

ने इस काम को करना पसंद नहीं किया। रानडे उस समय दौरे पर रहते थे। संयोग से उस दिन वे पूना ही में थे। जब उनको यह समाचार मालूम हुआ, वे तुरंत अपने मित्र राव बहादुर शंकर पांडुरंग को साथ लेकर मदन श्रीकृष्ण के घर पहुँचे और थोड़ी ही देर में ब्राह्मणों का प्रबंध करके मुर्दनी में शरीक हुए।

(४) बंगाली मर गया

पूना के सायंस कालेज में कई बंगाली विद्यार्थी पढ़ते थे। इनमें से एक, जो बड़ी दूर का रहनेवाला था, एक दिन अकस्मात् बीमार पड़ा और मर गया। दूसरे बंगाली लड़के बहुत घबरा गए। पराए देश में अपनी रीति के अनुसार मृतक संस्कार कराना उनको बड़ा कठिन मालूम हुआ। उन्होंने बहुत घबराकर रानडे को पत्र लिखा। रानडे तुरंत उनके घर पहुँचे और उन्होंने उनका सब प्रबंध कर दिया।

(५) पंजाबी को स्त्री-शोक

एक नवयुवक पंजाबी को, जो बंबई में रहता था, अपने देश में स्त्री के मरने का समाचार मिला। उसको उस समय बड़ा दु:ख हुआ और इसी अवस्था में उसने रानडे को एक पत्र लिखा। कचहरी से लौटते हुए रानडे उसके घर पहुँचे और उसके पास देर तक बैठकर उन्होंने उसको तसल्ली दी।

(६) चोर पर दया

रानडे के ब्राह्मण रसोइए को चोरी की बान पड़ गई थी। एक दिन आधी रात को उसने लोहे के बक्स की ताली लेकर

बक्स खोला और उसमें से गहना इत्यादि वह निकाल ही रहा था कि पकड़ा गया। रानडे ने उसको उसके घर तक का किराया देकर अपने यहाँ से बिदा किया।

(७) दुष्ट की दुष्टता और अपना कर्त्तव्य-पालन

सन् १८६६ ई० की गर्मी में रानडे ने लोनावला से एक मुकदमे का फैसला लिखकर एक लड़के को, जो उनके यहाँ रहता था, डाक में छोड़ने के लिये दिया। उस फैसले के साथ उनके साथी जज मि० जस्टिस पारसंस का भी फैसला था। थोड़ी देर में उस लड़के ने आकर रानडे से कहा कि डाकखाने पहुँचने से पहले ही वह पैकट कहीं रास्ते में गिर गया। वे दोनों फैसले पूना के एक खून के मुकदमे के थे। मालूम होता है कि खूनियों के किसी सहायक या मित्र ने लड़के को लालच देकर वा बहकाकर उससे फैसला ले लिया, क्योंकि इसके खो जाने की खबर आपसे आप पूना में पहले ही पहुँच गई। इसके अतिरिक्त जिस सड़क से वह रानडे के बँगले से डाकखाने की तरफ गया था, उधर रास्ता बहुत नहीं चलता था। सड़क भी छोटी थी। वक्त दिन का था। रानडे और मि० जस्टिस पारसंस को दूसरा फैसला लिखने का कष्ट उठाना पड़ा। रानडे के मित्रों ने लड़के को घर से निकाल देने की सलाह दी, परंतु उन्होंने सिवाय झिड़क देने के और उसका कुछ नहीं किया। अपने मित्रों को उन्होंने यह उत्तर दिया कि इस लड़के के बाप ने इसको मेरे सिपुर्द उस समय किया था जब

वह मृत्युशय्या पर पड़ा था और मैंने उस समय वचन भी दिया था कि मैं इसके संरक्षक का कार्य करूँगा। इसलिये इसको घर से निकालकर मैं अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं कर सकता। इस बालक को उन्होंने अपने घर पर अंत समय तक रखकर उसके पालन-पोषण और शिक्षा का प्रबंध किया।

(८) देश को लकवा मार गया

रानडे के मित्र वामन आबाजी मोड़क सी० आई० ई० को लकवा मार गया। वे उनको अपने घर ले आए। उस समय पूना के एक सज्जन उनसे मिलने आए और उन्होंने पूछा कि मोड़क महाशय को क्या बीमारी है? इन्होंने उत्तर दिया कि उनको वही बीमारी है जिससे समस्त भारत दुखी है।

(९) "मैं तुम्हारी गाड़ी में चलूँगा"

महाशय कुंटे रानडे के सहपाठी और मित्र थे। १८८५ में जब रानडे पूना में जज थे तब कुंटे भी पूना ही में थे। उन दिनों म्युनिसिपैलटियों में यह सुधार किया गया था कि सरकार के चुने हुए मेंबरों के बदले जनता के प्रतिनिधि भी चुने जायँ। रानडे इस सुधार के बड़े समर्थक थे परंतु कुंटे इसके विरुद्ध थे। इसलिये रानडे ने कुंटे का घोर विरोध किया। एक ओर रानडे चेष्टा करते कि पूनावासियों में अपने नगर के शासन करने की इच्छा हो और सुशिक्षित देशहितैषी सज्जन म्युनिसिपल बोर्ड में चुने जायँ, दूसरी ओर कुंटे ने इसके विरुद्ध महल्ले महल्ले सभाएँ करनी शुरू कीं। कुंटे बड़े वक्ता थे

और इन सभाओं में नवीन सुधार का विरोध करने के साथ साथ उन्होंने रानडे पर गालियों की बौछार भी शुरू कर दी। नगर में बड़ा आंदोलन मच गया। सरकारी अफसरों ने समझ लिया कि जन-समूह नवीन सुधार के विरुद्ध है। रानडे ने सोचा कि अब कुंटे को समझाना चाहिए। एक दिन कुंटे की सभा 'रास्ते पेठ' नामक स्थान में किसी सज्जन के घर पर की गई। इस घर में एक बड़ा कमरा था जिसमें एक ओर अंदर जाने का द्वार था, दूसरी ओर कुंटे महाशय खड़े होकर व्याख्यान देने लगे। सब लोग जमीन पर बैठकर उनका व्याख्यान सुन रहे थे। इतने में सामने से रानडे सभा में आते हुए दिखलाई दिए और द्वार के पास आकर बैठ गए। कुंटे उनको देखकर कुछ घबरा से गए। उन्होंने तुरंत अपनी पीठ रानडे की तरफ कर दी और दीवार की ओर मुँह करके वे व्याख्यान देने लगे। कुछ ही शब्द और कहे होंगे कि उनकी बोली बंद हो गई। वे झट बैठ गए। तब रानडे उनके पास जा बैठे। जब सभा विसर्जित हुई, रानडे ने कुंटे से प्रेमपूर्वक कहा—"चलो, गाड़ी में हवा खा आवें।" कुंटे ने रुखाई से कहा—"मैं तुम्हारी गाड़ी में नहीं चलूँगा।" यह कहकर कुंटे अपनी गाड़ी में जाकर बैठ गए। रानडे शांतिपूर्वक उनके पीछे हो लिए और बोले—"अच्छा, तुम हमारी गाड़ी में न चलोगे तो मैं तुम्हारे साथ तुम्हारी गाड़ी में चलूँगा।" यह कहते हुए उन्होंने कुंटे की गाड़ी में पैर बढ़ाया। बेचारा कुंटे क्या करता? रानडे को

अपने साथ बैठाना ही पड़ा। दोनों बहुत दूर तक हवा खाने गए। घर लौटने से पहले दोनों का मत-भेद दूर हो गया और फिर किसी ने भी नवीन सुधार का विरोध नहीं किया।

(१०) 'बुखार है या नहीं'

रानडे के चाचा विट्ठल काका बुढ़ापे में उनके साथ ही रहते थे। उनकी अवस्था सत्तर बहत्तर वर्ष की थी परंतु वे बड़े हृष्ट-पुष्ट थे। एक बेर वे रानडे और उनके परिवार के साथ महाबलेश्वर गए। उन दिनों प्लेग का जमाना था। वहाँ पहुँचकर डाक्टर ने सब लोगों की जाँच की। डाक्टर ने जब विट्ठल काका को थर्मामेटर लगाना चाहा, उन्होंने कहा— "थर्मामेटर से तुम्हें क्या मालूम होगा? तुम कह सकते हो कि मेरी उम्र कितनी है? तुम यही देखना चाहते हो न कि हमें बुखार है या नहीं? तो लो, देखो।" यह कहकर उन्होंने डाक्टर की कलाई पकड़ ली। डाक्टर ने कहा—"छोड़ दो, तुमको बुखार नहीं है, तुम हमसे भी ज्यादा मजबूत हो।"

(११) रानडे के चाचा

विट्ठल काका एक दफ्तर में १५) या २०) के मोहर्रिर थे। उनके बड़े साहब ने हुक्म दिया कि जिन लोगों को नौकरी करते २५ वर्ष हो गए वे अब पेंशन ले लें। विट्ठल काका को जब यह हुक्म दिखलाया गया, उन्होंने इसका कारण पूछा। दफ्तरवालों ने कहा—"२५ वर्ष काम करने के अनंतर लोग निर्बल, निरुत्साही हो जाते हैं और काम करने के योग्य नहीं

रहते ।" दूसरे ही दिन विट्ठल काका साहब के बँगले पर पहुँचे। साहब उस समय टहलने जा रहे थे। साहब के पूछने पर उन्होंने कहा—"मैं विट्ठल बाबा रानडे अमुक दफ्तर का क्लार्क हूँ।" साहब ने कहा—"फिर किसी वक्त आना, इस समय मैं बाहर जाता हूँ।" उन्होंने उत्तर दिया—"मुझे बँगले पर आने की जरूरत नहीं, सिर्फ दो मिनट ठहर जाइए।" यह कहकर आप लाँग कस और आस्तीन चढ़ा, चार बैलों के खींचने के लायक सड़क कूटने के पत्थर का बेलन साहब के सामने खींच लाए। साहब ने आश्चर्य से पूछा—"यह क्या करते हो?" विट्ठल काका ने कहा—"आपने दफ्तर में हुक्म दिया है कि जिनकी नौकरी पचीस वर्ष की हो गई वे सब पेंशन पर जायँ। मैंने सोचा कि दरख्वास्तें देने से मुझ गरीब की कोई सुनेगा नहीं, इसलिये यह प्रत्यक्ष दरख्वास्त देने मैं आया हूँ। यदि अब भी संदेह हो कि मैं काम नहीं कर सकता तो आप खुद बेलन घसीटकर देख लें।" दूसरे दिन उनका नाम पेंशन की सूची से काट दिया गया।

(१२) आम तोड़ा जेवर खोया

जब रानडे दौरे पर रहते थे तब एक दिन सतारा जिले के एक स्थान में टहलने निकले। रमाबाई से कह गए कि गाड़ी कसवा के तुम पीछे आना। रमाबाई ने सड़क के किनारे के पेड़ों पर आम लगे हुए देखकर चाबुक से तोड़ना शुरू किया। इसी में उनके हाथ का गहना गिर गया। उन्होंने बहुत तलाश

किया पर पता न लगा। गाड़ीवान और चपरासी भी उसको ढूँढ़ने लगे। इसमें रमाबाई को बड़ी देर लग गई। जब वे गाड़ी कसवाकर गईं तो रानडे दो मील जा चुके थे। उनसे मिलकर इन्होंने सब हाल कहा। इस पर आप गंभीरता-पूर्वक बोले—"बिना पूछे दूसरे के आम तोड़े, उसी की यह सजा मिली।" रात को भोजन के समय आपने रसोइए से कहा—"सबेरेवाले ७५) के आम की चटनी तो लाओ।" रमाबाई लिखती हैं कि इन बातों से मुझको बड़ी नसीहत मिली। रानडे ने यह भी कहा कि "गहने के लिये इतना दुःखी होने की आवश्यकता नहीं। आज दोपहर को हमारी भी एक जरते की डिबिया खो गई। एक चीज तुम्हारी खोई, एक हमारी। दोनों बराबर हो गए। हमारी डिबिया थोड़े दाम की थी, पर उसके बिना बड़ा हर्ज है। चीज खोने से अपनी असावधानता ही प्रतीत होती है। इसलिये सावधान रहना चाहिए। उसके लिये दिन भर दुखी रहने की आवश्यकता नहीं। सदा हँसी-खुशी से रहना चाहिए।"

(१३) "शहर की रहनेवाली"

जब रानडे दौरे पर रहते तब सायंकाल गाँव के लोग उनसे मिलने आते। उनसे वे व्यापार, त्योहार, पाठशाला, कथा, पुराण इत्यादि विषयों पर बातचीत करते। आपने एक दिन रमाबाई से पूछा—"कहो, यहाँ की स्त्रियों से कुछ बातचीत हुई?" रमाबाई ने उत्तर दिया—"यों ही

इधर उधर की कुछ बातें हुईं।" इस पर रानडे ने कहा—"हाँ, ठीक ही है, तुम पढ़ो-लिखी शहर की रहनेवाली हो, वे बेचारी गँवार। वे तो योंही तुम्हें देखकर दब जाती होंगी।" इस प्रकार हास्य-विनोद द्वारा लज्जित कर रानडे रमाबाई को गाँव की स्त्रियों की सामाजिक अवस्था जानने पर बाध्य करते थे।

(१४) "नरक को स्वर्ग बनाना"

पूना में प्रार्थनासमाज का मंदिर बनवाने के लिये कोई स्थान नहीं मिलता था। बहुत ढूँढ़ने पर एक तंग गली में एक गंदी जगह मिली और रानडे ने वहीं मंदिर बनवाया। लोगों ने जगह के गंदे होने की शिकायत की। उन्होंने जवाब दिया—"हमें तो नरक को स्वर्ग बनाना है।"

(१५) थकावट में देशसेवा और बीमारी में कर्त्तव्य-पालन

लोनावला में एक बेर पानी बरसने पर भी रानडे खुली हवा में ही बैठे रह गए। इससे गुरदे का रोग हो गया। बंबई में चिकित्सा की, कुछ फायदा हुआ। एतवार के दिन सबेरे ही से आपने कचहरी का काम करना शुरू कर दिया। भोजन करके वे फिर उसी काम को करने बैठे और उन्होंने रमाबाई से कह दिया कि आज किसी से भेंट न करेंगे। तीसरे पहर रमाबाई ने चाय के लिये पूछा तो कहा अभी नहीं, मैं आप ही माँग लूँगा। थोड़ी देर बाद उन्होंने आप ही चाय माँगी

और मुँह हाथ धोकर टहलने जाने की तैयारी की। इतने में प्रार्थनासमाज के चपरासी ने आकर कहा—"सेक्रेटरी साहब ने कहा है कि आज आप ही उपासना करावें।" रमाबाई को क्रोध आया। उन्होंने कहा—"सेक्रेटरी साहब ने कहा है या आज्ञा दी है, पत्र तक न लिखा और सँदेसा भी भेजा तो पाँच बजे।" इस पर रानडे ने कहा—इसमें सिपाही का क्या दोष है? इसका काम सँदेसा पहुँचाना है। उन्होंने सिपाही से कहा—चलो, हम आते हैं, और रमाबाई से प्रार्थना-संगीत की पुस्तक माँगी। रमाबाई के पूछने पर उन्होंने कहा—"जिस मुकदमे का फैसला मैं आज लिख रहा हूँ वह बड़े महत्त्व का है। हम जजों में पाँच छः दिन तक विचार होता रहा तो भी सबकी राय नहीं मिली। कल उसका फैसला सुनाना होगा। और मेरे साथी जज ने कल संध्या को मुझे पत्र भेजा है कि मैं ही फैसला लिखूँ। इसी लिये सबेरे और संध्या को बहुत देर तक बैठना पड़ा। मुकदमा खून का है जिसमें धारवाड़ के ६ ब्राह्मण अभियुक्त हैं।" प्रार्थनासमाज में पहुँचकर आपने बड़ी ही प्रेमोत्तेजक और भक्तिपूर्ण उपासना कराई। वहाँ से लौटते हुए गाड़ी ही में तबीयत खराब हो गई। रात को बुखार आ गया और नींद बिलकुल नहीं आई। दूसरे दिन फैसला लिखते हुए कुछ शौच की आवश्यकता प्रतीत हुई। पर उन्होंने कहा—अब काम खतम करके उठेंगे। इस पर रमाबाई ने कहा—"विश्राम तो आप लेते ही नहीं, काम पर काम करते

चले जाते हैं। मन तो वश में हो जाता है परंतु उसके कारण शरीर को कष्ट भोगना पड़ता है।" आपने कहा—"यदि तुम्हारे थोड़े से श्रम से किसी के प्राण बच सकें तो तुम इतना कष्ट सहने के लिये तैयार होगी या नहीं?" रमाबाई ने कहा—"मैं ही क्या, सब तैयार होंगे।" रानडे ने कहा—"बीमार होने की किसी को इच्छा नहीं होती, इस मुकदमे में मेरे साथी जज की फाँसी की राय थी। मेरा मत इसके विरुद्ध था इसलिये इसका फैसला लिखने में अधिक समय और श्रम लगा। यदि मैं बीच ही में उठ जाता तो मन के विचार तितर बितर हो जाते और उन्हें फिर एकत्र करने में कठिनता होती।" दूसरे दिन कचहरी से आकर उन्होंने रमाबाई से कहा—'आज दो आदमियों की जान बची। उनको फाँसी की आज्ञा हुई थी पर अंत में कालेपानी की सजा दी गई।'

(१६) नौकरों से प्रीति

१८९७ में जब बंबई में प्लेग फैला हुआ था, रानडे के कई नौकरों को प्लेग हो गया। आपने उनकी चिकित्सा का समुचित प्रबंध कर दिया। वे उनका प्रति दिन हाल पूछते, उनकी खराब अवस्था का हाल सुनकर रात को भोजन न करते। रमाबाई घबरातीं कि कहीं वे अस्पताल उनको देखने न पहुँच जायँ क्योंकि वे नहीं चाहती थीं कि रानडे प्लेग के अस्पताल में जायँ। इसके साथ ही वे यह भी नहीं चाहती थीं कि उनसे यथार्थ हाल छिपावें जिसमें

पीछे इसके कारण अप्रसन्नता हो। इनमें से एक उनकी सौतेली माँ के गाँव का लिखा पढ़ा आदमी था जो रानडे को पुस्तकें और समाचारपत्र पढ़कर सुनाया करता था। वह अँगरेजी का काम अच्छा कर लेता था और रानडे को भक्ति की दृष्टि से देखता था। वह पाँच घंटा लगातार काम कर सकता था। उसका नाम काशीनाथ था। रमाबाई उसको अस्पताल में देखने गईं और उससे उन्होंने कहा कि रानडे भी तुमको देखने आवेंगे। यह सुनकर वह डाक्टर पर बिगड़कर अँगरेजी में कहने लगा—"मेरे मालिक को देखो, वे मुझ पर कितनी दया करते हैं। इस प्लेग के अस्पताल में उन्होंने अपनी स्त्री को भेजा है और वे मुझे देखने स्वयं आएँगे। वे कल ही आते परंतु उनको काम से छुट्टी नहीं मिलती; तुम जानते हो वे जब तक खूब सो नहीं जाते किसी न किसी काम में लगे रहते हैं। मैं उनका रीडर हूँ। मैं घंटों उनको पढ़-कर सुनाता हूँ। मैं बेकार नहीं बैठ सकता परंतु तुमने मुझे कैदी बना लिया है। क्या तुमको नहीं मालूम मैं कौन हूँ? मैं जस्टिस रानडे का रीडर हूँ। बिना मेरे उनका काम नहीं चल सकता। मैं उनका प्राइवेट सेक्रेटरी हूँ। क्या तुम नहीं जानते मैं किसका आदमी हूँ? क्या वे पसंद करेंगे कि मैं बेकाम बैठा रहूँ? मैं उठता हूँ और काम में लग जाता हूँ, अब तुम्हारी किसी की नहीं सुनूँगा।" यह कहता हुआ वह पागल की तरह सनकने लगा। डाक्टर के संकेत करने

पर रमाबाई वहाँ से चल दीं। उसके अनंतर वे दूसरे नौकरों को देखकर घर गईं। रानडे उस समय भोजन कर रहे थे। उसका हाल सुनकर उन्होंने खाने से हाथ खींच लिया और आँखों में आँसू भरकर वे बोले—"यदि हम लोग पंद्रह दिन पहले ही बँगला छोड़ देते तो यह अवसर न आता। यह लड़का बड़ा होनहार और बड़े काम का है।" हाईकोर्ट में पाँच नौकरों में से तीन के मरने का समाचार पहुँचा जिनमें से एक काशीनाथ था। डाक्टर ने पुछवाया कि उसकी अंतिम क्रिया अस्पताल के खर्चे से होगी अथवा उनके खर्चे से। रानडे ने तुरंत दो आदमी अस्पताल भेजे और एक अपने घर से रुपया लाने के लिये। काशीनाथ की अंत्येष्टि क्रिया का उन्होंने प्रबंध स्वयं किया और दूसरे नौकरों का उनकी बिरादरीवालों से करा दिया।

(१७) जीभ की परीक्षा

एक बार पूना से रानडे के एक मित्र ने अपने बाग के कुछ आम भेजे। रमाबाई ने उनमें से एक चीरकर उनकी थाली में रखा। उन्होंने एक फाँक खाकर आम की तारीफ की और कहा—"तुम भी खाओ और सब लोगों को दो।" रमाबाई ने कहा—"आजकल तो आपका शरीर भी अच्छा है परंतु आपने मित्र का स्नेहपूर्वक भेजा हुआ एक आम भी न खाया। आम भी अच्छा है।" रानडे ने उत्तर दिया—"आम अच्छा था इसी लिये तो मैंने छोड़ दिया। तुम भी खाओ और

लड़कों को भी दो। मैं और भी दो एक फाँक खा लेता परंतु आज मैंने जीभ की परीक्षा ली है। बचपन में जब हम लोग बंबई में पढ़ते थे तब हमारे बगलवाले कमरे में हमारे एक मित्र और उनकी माता रहती थीं। इनका परिवार किसी समय में बड़ा संपन्न था परंतु उस समय मेरे मित्र को २०) या २५) छात्र-वृत्ति मिलती थी, उसी से दोनों निर्वाह करते थे। कभी कभी जब लड़का तरकारी न लाता तब माँ कहती—'इस जीभ को कितना समझाती हूँ कि सात आठ तरकारियों, चटनियों, घी, खीर और मठे के दिन अब गए। परंतु तो भी बिना चार छः चीजों के यह जीभ मानती ही नहीं। इस लड़के के लाए तरकारी भी नहीं लाई जाती। इसका काम तो बिना तरकारी चल जाता है परंतु मेरा नहीं चलता।' तात्पर्य यह कि यदि जीभ को अच्छी अच्छी चीजों की आदत लगा दी जाय और दिन अनुकूल न हों तो बड़ी कठिनता होती है। ज्यों ज्यों मनुष्य बड़ा और समझदार होता जाय त्यों त्यों उसे मन में से पशु-वृत्ति कम करने और दैवी गुण बढ़ाने की आदत डालनी चाहिए। अच्छी बातों के साधन में बहुत कष्ट होता है, उसे सहन करने के लिये यम-नियमों का थोड़ा बहुत अवलंबन करना चाहिए। लड़कियों को उदाहरण दिखलाने के लिये स्त्रियाँ चातुर्मास का नियम करती हैं। परंतु ऐसे नियमों के लिये निश्चित दिन और समय की आवश्यकता नहीं। ज्योंही ऐसा विचार मन में आवे त्योंही बिना मुँह से

कहे उसका साधन करना चाहिए। जिस काम को रोज थोड़ा थोड़ा करने का निश्चय किया जाय वह जल्दी साध्य होता है। दैवी गुण बढ़ाना और मन को उन्नत करना सबके लिये कल्याणप्रद है। ऐसी बातें दूसरों को दिखलाने या कहने के लिये नहीं हैं। रात को सोते समय अपने मन में इस बात का विचार करना चाहिए कि आज हमने कौन कौन से अच्छे और बुरे काम किए हैं। अच्छे काम को बढ़ाने की ओर मन की प्रवृत्ति रखनी चाहिए और बुरे कामों को कम करने का दृढ़ निश्चय करके ईश्वर से उसमें सहायता माँगनी चाहिए। आरंभ में इन बातों में मन नहीं लगता परंतु निश्चय-पूर्वक ऐसी आदत डालने से आगे चलकर ये बातें सबको रुचने लगती हैं। जब हम अपने आपको ईश्वर का बनाया हुआ मानते हैं तब क्या हममें दिन पर दिन उसके गुण नहीं आ सकते? जो लोग अधिकारी और भाग्यवान् होते हैं वे कठिन यम-नियमों का पालन और योग-साधन करते हैं परंतु हमारा भाग्य ऐसा नहीं है। हम हजारों व्यसनों में फँसे हुए हैं; तिस पर कानों से बहरे और आँखों से अंधे हैं। इस-लिये यदि उन लोगों के बराबर हम साधन न करें तो भी अपने अल्प सामर्थ्यानुसार इस प्रकार की चेष्टा तो करनी ही चाहिए।" इस पर रमाबाई ने कहा—"यह सुनकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। तो भी नियमानुसार आपने और बातों में मेरा प्रश्न उड़ा दिया। अस्तु, मैं समझ गई कि चाय के

घूँटों की तरह भोजन भी परिमित हो गया। आप इसमें अधिक ध्यान रखा करें। खाना तो आपके ही अधिकार में है न ?" रानडे ने उत्तर दिया—"अच्छा हम एक बात पूछते हैं। कभी हम भी इस बात की जाँच करते हैं कि तुम लोग क्या खाती हो, क्या पीती हो, कितनी देर सोती हो, या क्या करती हो; तब फिर तुम लोग पुरुषों की इन बातों की जाँच क्यों करती हो......हमारे एक एक काम पर तुम जासूस की तरह दृष्टि रखती हो।"

(यह कथा रानडे के अंतिम दिनों की है)

---

(१०) धार्मिक विचार

"Every sect supposes itself in possession of all truth, and that those who differ are so far in the wrong; like a man travelling in foggy weather, those at some distance before him on the road, he sees wrapped up in the fog as well as those behind him and also the people in the fields on each side; but near him all appears clear, though in truth, he is as much in the fog as any of them."

—Benjamin Franklin.

रानडे प्रार्थना-समाज के सभासद थे जो दक्षिण प्रांत में १८६७ में चलाई गई। प्रार्थना-समाज के सिद्धांत प्राय: वे ही हैं जो ब्रह्म-समाज के हैं। इस समाज के लोग एक ईश्वर में विश्वास रखते हैं। किसी ग्रंथ-विशेष को ईश्वरकृत नहीं सम-

झते। संसार के सब धर्मग्रंथों को मनुष्य के स्वभाव में धार्मिक रुचि के अस्तित्व की साक्षी मानते हैं। एक ईश्वर को माननेवालों का क्या विश्वास होना चाहिए, इस विषय पर रानडे ने एक लेख "A theist's confession of faith" लिखा था।

रानडे में गुरु अथवा आचार्य बनने की लालसा नहीं थी, इसलिये अपने सिद्धांतों को बतलाते हुए उन्होंने कहीं यह नहीं कहा कि ये मेरे सिद्धांत हैं। प्रत्येक विषय पर यही कहा है कि एक ईश्वर को माननेवालों का यह सिद्धांत है।

रानडे के धार्मिक उपदेश पूना और बंबई की प्रार्थना-समाज में विशेषकर मराठी भाषा में हुआ करते थे। उनमें से कुछ पुस्तकाकार छप गए हैं। उनके अँगरेजी व्याख्यान कभी शीघ्र लिपि-प्रणाली द्वारा अथवा अन्य प्रकार से लिखकर सामयिक पत्रों में छप जाते थे।

धार्मिक सुधार संबंधी नवीन संस्थाओं में ब्रह्मसमाज सबसे प्राचीन समझा जाता है। रानडे का यह मत था कि सुधारक लोगों का दल उन्नीसवीं शताब्दी में ही पहले पहल उत्पन्न नहीं हुआ। धर्म में जो बुराइयाँ पीछे से आती रहीं उनका विरोध प्राचीन काल से होता चला आया है। उपनिषद्-कर्त्ताओं ने अनेक स्थानों पर यज्ञादि की निष्प्रयोजनता दिखलाई है। शाक्य मुनि बुद्ध ने अपने समकालीन धर्म की प्रथा का संशोधन कर संसार के बहुत बड़े भाग पर अपना प्रभाव डाला। मुसलमानों के समय में इस देश में अनेक प्रभावशाली साधु

संत हुए जिन्होंने धर्म के बाहरी दिखलावे की खुल्लमखुल्ला निंदा की और संसार को उपदेश दिया कि बाहरी आडंबर छोड़कर अपने हृदय को पवित्र करो। रानडे ने अपने अनेक व्याख्यानों में दिखलाया है कि संसार में किसी देश के सुधारकों को इतनी प्राचीनता का गौरव नहीं हो सकता जितना इस देश के लोगों को है। नारद, प्रह्लाद, वासुदेव, बुद्धदेव इत्यादि ऋषियों ने जिस प्रकार अपने समय में नवीन जीवन का संचार किया था उसी प्रकार ज्ञानदेव, एकनाथ, तुकाराम इत्यादि ने मुसलमानों के राज्यकाल में किया। उन्हीं उच्च आदर्शों से उत्तेजित होकर अँगरेजी राज्य में राममोहन राय, दयानंद सरस्वती इत्यादि ने लोगों को धर्म-पथ दिखलाया। प्राचीन काल के ऋषियों के विचार संस्कृत-ग्रंथों में मिलते हैं परंतु सोलहवीं शताब्दी और उसके पीछे के साधु संतों ने जो कार्य किया है वह जनसमूह की भाषा द्वारा। नाभाजी, उद्धव, प्रियादास और महीपति ने जिन संतों का विवरण लिखा है उनमें स्त्री और पुरुष दोनों थे।

जिस प्रकार महाराष्ट्रीय लोगों को अपने संतों का अभिमान है उसी प्रकार हिंदी-भाषा-भाषी लोगों का सूरदास, तुलसीदास, कबीरदास, गुरु नानक ऐसे महात्माओं से सिर ऊँचा होता है।

इन महात्माओं की निम्नलिखित विशेषताएँ रानडे ने बतलाई हैं—

(१) इनके वचन भाषा में हुआ करते थे। इनमें से कुछ संस्कृत द्वारा प्रचार करने के विरोधी थे, यद्यपि इन्होंने स्वयं संस्कृत का अध्ययन किया था। उस समय के पंडित इनका विरोध करते थे। यहाँ तक कहा जाता है कि पंडितों ने एकनाथ और तुकाराम के ग्रंथों को डुबवा दिया था। इन संतों द्वारा भाषा-साहित्य में अद्भुत उन्नति हुई। यद्यपि संस्कृत-पंडितों में भी भाषा के प्रेमी हैं, और इनकी संख्या बढ़ रही है तथापि उनमें अधिकांश अब तक भाषा-साहित्य की उन्नति की ओर बिलकुल ही ध्यान नहीं देते। पंडितों और संतों में अवश्य झगड़ा रहा होगा, नहीं तो कबीर साहब इस प्रकार क्यों लिखते ?

संस्कृत ही पंडित कहै, बहुत करै अभिमान।
भाषा जानि तरक करै, ते नर मूढ़ अजान॥
संस्कीरत संसार में, पंडित करै बखान।
भाषा भक्ति दृढ़ावही, न्यारा पद निरवान॥
संस्कीरत है कूप-जल, भाषा बहता नीर।
भाषा सतगुर सहित है, सतमत गहिर गँभीर॥
पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित हुआ न कोय।
एकै अच्छर प्रेम का, पढ़ै सो पंडित होय॥
पढ़ि पढ़ि तो पत्थर भया, लिखि लिखि भया जो ईट।
कबिरा अंतर प्रेम की, लगी न एकौ छींट॥
पंडित और मसालची, दोनों सूझे नाहिं।
औरन को करैं चाँदना, आप अँधेरे माहिं॥

परंतु इस पर गुसाईं तुलसीदासजी ने ठीक कहा है—

का भाषा का संस्कृत, प्रेम चाहिए साँच।
काम जो आवै कामरी, का लै करै कमाँच* ॥

(२) इन संतों ने धर्म के आडंबरों को त्यागने की शिक्षा दी और उनके बदले धार्मिक जीवन बनाने का उपदेश किया। केवल तीर्थों में घूमना, बिना भोजन किए रहना, रातों जागना इत्यादि धार्मिक जीवन में बहुधा सहायक नहीं होते। धर्म-दासजी का, जो कबीर के शिष्य थे, वचन है—

हरि ना मिलैं अन्न के छाड़े। हरि ना मिलैं डगर ही माँड़े ॥
हरि ना मिलैं घर बार तियागे। हरि ना मिलैं निसुवासर जागे ॥
दया धरम जहँ बसे सरीरा। तहाँ खोजि लै कहै कबीरा ॥

गुरु नानकजी कहते हैं—

बरतु नेम तीरथ भ्रमें, बहुतेरा बोलणी कूड।
अंतरि तीरथु नानका, सोधन नाहीं मूड ॥

दादूदयालजी ने इन सब बातों का निचोड़ कह दिया—

कोटि अचारी एक बिचारी, तऊ न सरभरि† होइ।
आचारी सब जग भरया, बिचारी विरला कोइ ॥

स्मरण रहे कि तीर्थ, व्रतादि आत्मोन्नति के लिये एक प्रकार के साधन बनाए गए हैं। इनके आडंबर को धर्म मान लेना ही संतगणों ने भूल बतलाया है।

* दुशाला।
† बराबरी।

(३) संतों ने जाति पाँति को भक्ति की प्राप्ति के लिये आवश्यक नहीं माना है। रैदासजो मोची थे, सदनाजी कसाई थे, गरीबदास जाट थे, बुल्ला साहब कुनबी थे, धरनीदास कायस्थ थे, यारी साहब और दोनों दरिया साहब मुसलमान थे, कबीर साहब जुलाहे थे। महाराष्ट्र संतों में नाई, जुलाहे, महार जाति ने भी संत उत्पन्न किए थे।

भक्तमाल में अनेक ऐसी कथाएँ आती हैं कि एक ओर ब्राह्मण वेद और पुराणों द्वारा ईश्वर को प्रसन्न करने का प्रयत्न करते हैं, दूसरी ओर छोटी जाति में उत्पन्न एक सच्चे हृदय का सीधा-सादा पुरुष भक्ति से गद्‌गद होकर प्रेमपूर्वक भगवान् का चिंतन करता है और कृपानिधि दूसरे की ओर आकर्षित हो जाते हैं।

"जाति पाँति पूछै नहि कोई। हरि को भजै सो हरि का होई॥"

प्रसिद्ध है कि चित्तौर की रानी जब काशी आई, उन्होंने रैदास भक्त को, जो चमार थे, और विद्वान् पंडितों को अपने यहाँ बुलवाया। पंडितों ने खूब मंत्र पढ़े परंतु रैदासजी ने जब प्रेम और भक्ति-भाव में आकर भजन गाना आरंभ किया, भगवान् की मूर्ति जो सिहासन पर विराजमान थी, सिंहासन छोड़कर रैदास की गोद में जा बैठी।

इस प्रकार की कथाएँ आजकल के सुधारक लोगों की बनाई हुई नहीं हैं।

हम वासी वा देस के, जहँ जाति बरन कुल नाहिं।
सबद मिलावा होत है, देह मिलावा नाहि॥

संतों की श्रेणी में स्त्रियों का भी उच्च पद था। मीराबाई, सहजोबाई, दयाबाई के वचन प्रेम और भक्ति से भरे हैं। वे इस बात का प्रमाण देते हैं कि ईश्वर की दृष्टि में स्त्री और पुरुष दोनों का दर्जा एक है।

जिन भक्तों का जन्म ब्राह्मण-कुल में हुआ था, वे भी प्रेमपूर्वक उन संतों से व्यवहार करते थे जिनका जन्म छोटी जाति में हुआ था।

(४) भक्तजन दया का प्रचार और अहिंसा का उपदेश सर्वदा किया करते थे, अपने इस उद्देश्य में वे पूर्णतया कृतकार्य हुए। मांसादि भक्षण का, जो कभी कभी धर्म के नाम से होता था, उन्होंने जोर से खंडन किया। उनके उद्योग से वैष्णवता देश में सर्वप्रिय हो गई। कबीरजी मुसलमान के घर में पाले गए थे, पर उन्होंने बड़े मनोहर और चुभते हुए शब्दों में मांसादि का प्रयोग मना किया है। सदनाजी तो कसाई ही थे, फिर भी मांस नहीं खाते थे।

---

(११) समाज-सुधार का उद्योग

Isolation, submission to outward force or power more than to the voice of the inward conscience, perception of factious difference between men and men due to heredity and birth, a passive acquiescence to secular

well-being almost bordering upon fatalism. These have been the root ideas of our social system.

—Ranade

भारत की अधोगति के अनेक कारणों में से एक कारण इस देश की वर्तमान सामाजिक अवस्था है। इससे हमारी जातीय शक्ति का बिलकुल ह्रास हो गया है, हमारे लौकिक और पारमार्थिक आदर्श हमारे शास्त्रों और इतिहासों में मिलते हैं, हमारे वर्त्तमान जीवन में कम। ब्रह्मचर्य्य के स्थान पर बाल-विवाह फैल गया; सीता और सावित्री के नाम का स्मरण करनेवाली हमारी देवियाँ शिक्षा से विहीन रखी जाने लगीं; ब्राह्मण का उच्च पद, जो आध्यात्मिक और अलौकिक शक्तियों का बोधक था, अब केवल नाम मात्र के लिये रह गया है; जहाँ आचरण की पवित्रता प्रथम श्रेणी का गुण समझा जाता था वहाँ मादक वस्तुओं का प्रचार बढ़ता जा रहा है और यज्ञोपवीत विवाहादि वैदिक संस्कारों पर भी रंडियों के नाच की प्रथा चल निकली है। इस सामाजिक दुर्दशा के कारण विदेशीय धर्म-प्रचारक और अन्य लोगों को अन्य देशों में हमारी अवस्था नोन मिर्च लगाकर सुनाने का अवसर मिलता है जिसका प्रभाव हमारी राजनैतिक उन्नति पर पड़ता है। मिस्टर फिशर ने, जो विलायत के किसी विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर हैं, अपने एक व्याख्यान में कहा था कि भारत का स्थान अँगरेजी साम्राज्य के उपनिवेशों के समान तब हो सकता है जब यहाँ के लोग नीच जातियों के साथ अच्छा बर्ताव करने लगें,

बाल-विवाह बिलकुल उठा दिया जाय और जाति के बंधन कुछ ढीले कर दिए जायँ। मि० फिशर का यह विचार सत्य है या झूठ इस पर विवाद की आवश्यकता नहीं परंतु इस उदाहरण से विलायती राजनीतिज्ञों की सम्मति इस देश को राजनैतिक अधिकार देने के संबंध में मालूम हो जाती है।

सामाजिक दुर्दशा समस्त जातीय दुर्दशा का कारण होती है। रानडे ने अपने जीवन का बहुमूल्य और अधिकांश समय भारतीय सामाजिक अवस्था के सुधार में लगाया। वे अपनी तीस वर्ष की अवस्था में जब 'इंदु-प्रकाश' के संपादक नियुक्त हुए थे तभी से समाज-संशोधन के पक्ष में आंदोलन करते थे।

स० १८८४ में रानडे ने पंडित शंकर पांडुरंग और सर रामकृष्ण भांडारकर के साथ मिलकर कन्याओं के लिये पूना हाई स्कूल खोला। इस पर भी बड़ा आंदोलन हुआ और इन नवयुवकों को चारों ओर से गालियाँ मिलने लगीं, यहाँ तक कि हिंदू कन्याएँ बहुत कम आतीं और यहूदी और ईसाई लड़कियों की संख्या बढ़ने लगी। परंतु रानडे ने इसकी परवाह न की। धीरे धीरे हिंदू कन्याओं की ही अधिकता हो गई, और इतनी लड़कियाँ आने लगीं कि स्थानाभाव से बहुत सी निराश होकर लौटने लगीं।

समाज-सुधार के इस प्रकार के उद्योग का प्रभाव केवल नगर विशेष अथवा प्रांत विशेष पर पड़ सकता था। पर

आवश्यकता थी कि समस्त देश इसको स्वीकार करे। १८८५ में कांगरेस का जन्म हुआ। इसके द्वारा राजनैतिक विषयों पर आंदोलन होने लगा। कांगरेस किसी स्थान विशेष की संस्था नहीं है। इसके अधिवेशन समस्त देश के प्रत्येक भाग में होते हैं। एक वर्ष एक प्रांत की राजधानी अथवा किसी मुख्य नगर में, दूसरे वर्ष दूसरे प्रांत में। इस प्रकार कांगरेस के द्वारा समस्त देश में एक प्रकार की जाग्रति उत्पन्न होती है। रानडे का विचार हुआ कि राजनैतिक कार्य के साथ साथ समाज-संशोधन संबंधी जाग्रति भी होनी चाहिए। यों तो कांगरेस द्वारा भी एक प्रकार का सामाजिक सुधार होता है। एक प्रांत के हिंदुओं का दूसरे प्रांत के हिंदुओं से मिलना; हिंदू, मुसलमान, पारसी आदि अनेक जातियों का एक साथ बैठना, एक प्रकार से सामाजिक संकीर्णता पर कुठार मारना है। पर कांगरेस में सामाजिक विषयों पर विचार नहीं हो सकता। उसमें सरकारी कर्मचारी शरीक भी नहीं हो सकते। इसलिये आवश्यक हुआ कि यदि सामाजिक विषयों पर आंदोलन किया जाय तो वह कांगरेस से पृथक् हो। १८८५ में जब कांगरेस बंबई में हुई, रानडे और दीवान बहादुर रघुनाथराव ने समाज-संशोधन की आवश्यकता पर व्याख्यान दिए। दूसरे वर्ष कांगरेस कलकत्ते में हुई, वहाँ इस विषय पर विचार नहीं हुआ, परंतु समाचार-पत्रों में वाद विवाद चल रहा था कि कांगरेस में सामाजिक विचार होने चाहिएँ या नहीं।

स० १८८७ में जब कांगरेस का तीसरा अधिवेशन मद्रास में हुआ, तो यह निश्चय हुआ कि भारतीय सोशल कान्फरेंस (सामाजिक समिति) स्थापित की जाय। इस कान्फरेंस के जन्म-स्थान का गौरव मद्रास को प्राप्त हुआ। इसके प्रथम सभापति राजा तांजोर माधवराव के० सी० एस० आई०, जो ट्रावंकोर, इंदौर और बड़ोदा में दीवान रह चुके थे, किए गए; कान्फरेंस के मंत्री दीवान बहादुर रघुनाथराव चुने गए। रानडे उपमंत्री नियुक्त हुए। कान्फरेंस का अधिवेशन कांगरेस मंडप ही में किया गया और उस समय से (पूना के अतिरिक्त) प्रत्येक प्रांत में वहीं होता रहा।

इस कान्फरेंस के प्रथम तेरह अधिवेशनों में रानडे बराबर उपस्थित होकर व्याख्यान देते रहे। चौदहवाँ अधिवेशन जब लाहोर में हुआ, वे बीमार पड़े और पीछे मृत्यु को प्राप्त हुए। इस अधिवेशन के लिये बीमारी की अवस्था में उन्होंने अपना व्याख्यान तैयार करके गोखले के द्वारा भेजवा दिया था। कहा जाता है कि उपस्थित होने की असमर्थता के कारण उनकी आँखों में कई बार आँसू आ गए।

कान्फरेंस के आरंभ का कार्य कठिन था। चारों ओर के विरोध और जाति से निकाले जाने के डर के कारण शिक्षित सज्जन लोग भी इसके साथ सहानुभूति प्रकट करने से हिचकते थे। तिस पर भी रानडे की दृढ़ता, सहनशीलता और देशहितैषिता के कारण अनेक विद्वान् और प्रतिष्ठित लोग उनका

साथ देते थे। कान्फरेंस के सभापतियों की नामावली से प्रकट हो जाता है कि भारतीय अनेक संस्कृतज्ञ विद्वान्, अग्रगण्य राजनैतिक नेता और अन्य प्रतिष्ठा-प्राप्त सज्जन समाज-संशोधन की आवश्यकता को स्वीकार करते थे। कान्फरेंस में सभापति प्राय: उसी प्रांत के सज्जन चुने जाते हैं जहाँ उसका अधिवेशन होता है। कांगरेस में ऐसा नहीं होता।

कान्फरेंस के इतिहास में एक घटना स्मरणीय है। १८९५ में, जब कांगरेस पूना में हुई थी तब, सोशल कान्फरेंस का नवाँ अधिवेशन वहीं हुआ था। कान्फरेंस के पाँच छः महीने पहले से इस बात का विरोध उठाया गया कि उसकी बैठक कांगरेस के मंडप में न हो। इस विरोध ने भीषण स्वरूप धारण किया। बंबई प्रांत के अनेक नगरों में विशेषकर पूना, सोलापुर, अहमदनगर, नासिक, बंबई, सतारा, नागपुर, धारवाड़ में इस विषय पर आंदोलन आरंभ हुआ। मामला यहाँ तक बढ़ा कि कांगरेस की बैठक होने में भी खटका पैदा हो गया। हर स्थान में दो दल हो गए। उस वर्ष कांगरेस के सभापति सर सुरेंद्रनाथ बैनरजी थे। दोनों दलवाले उनकी सहानुभूति के प्रार्थी हुए। बैनरजी के सुधार के पक्षपाती होते हुए भी रानडे ने कान्फरेंस के अधिवेशन का स्थान बदलकर सब झगड़ा तै कर दिया।

उन्हीं दिनों रानडे ने दूसरा व्याख्यान "समाज-संशोधन के इतिहास" पर दिया। उसके अंत में इस झगड़े का जिक्र

इस प्रकार किया—"सुधारक और उनके विरोधियों में दक्खिन के जिलों में जो झगड़ा हुआ वह इस अंश में विशेषकर लाभदायक है कि उसके कारण सर्वसाधारण का ध्यान कान्फरेंस के उद्देश्यों की ओर गया। उन स्थानों में जहाँ मराठी भाषा बोली जाती है, बरार और मध्यप्रदेश में, दोनों दलों में साल भर घोर और बलपूर्वक युद्ध हुआ। मैंने अपने पहले व्याख्यान में बतलाया है कि इस युद्ध का किसी दूसरे प्रांत में होना असंभव था, क्योंकि इसका होना सिद्धांतों के कारण था, व्यक्तिगत झगड़ों के कारण नहीं। इस समय हमारा कर्त्तव्य है कि हम विचारें कि सुधारक लोगों का उनके प्रति, जो सुधार के विरुद्ध हैं, क्या बर्ताव होना चाहिए। हमारे पास बहुसंख्या का बल नहीं है, परंतु अपने विश्वास पर दृढ़ता, अपने काम की धुन, आत्म-समर्पण के लिये तत्परता आदि गुण हमारे अच्छे कार्यकर्त्ता लोगों में आ सकते हैं। यद्यपि ये कार्यकर्त्ता संख्या में थोड़े हैं परंतु अंत में वे विरोध को दूर करने में कृतकार्य होंगे। सबसे पहले हमें यह सीखना है कि हम सहन कर सकें और क्षमा कर सकें। लोग हमारी हँसी उड़ाएँगे, मानहानि करेंगे, कभी कभी हमारे शरीर को भी कष्ट पहुँचाएँगे—हम इन सबको सहन करें। गाली के जवाब में गाली देने से हम दूर रहें। नाजरेथ के महात्मा (ईसू) के शब्दों में, हमको सूली पर चढ़ना है इसलिये नहीं कि कष्ट उठाना रुचिकर है वरंच इसलिये कि कष्ट और पीड़ा उस

सिद्धांत के सामने, जिसके लिये वे सहन की जाती हैं, कुछ भी नहीं हैं। व्यक्तियों में मत-भेद हो तो हुआ करे। ऐसे मत-भेद तो मनुष्य-स्वभाव की कमजोरी और मनुष्य की अल्पज्ञता के कारण होते ही रहेंगे। यथार्थ में तो एक मनुष्य का मन दूसरे मनुष्यों के मन से मिलता है, हम सब में ईश्वरीय तत्त्व की उपस्थिति इस मेल का मूल कारण है, और यही भाव है जो सब लोगों को प्रेम और सहानुभूति के बंधन से बाँधता है। आकाश के जल में उसी पृथ्वी का रंग आ जाता है जिस पर वह बहता है, परंतु ये रंग भिन्न भिन्न प्रकार के जल नहीं बनाते। थोड़ी देर के लिये उनमें रंग का भेद मालूम होता है, पर अंत में वे मिलकर शुद्ध स्रोत के द्वारा महासागर में लीन हो जाते हैं, उनके पीछे मिट्टी, कीचड़ और बालू रह जाता है। यदि इस विश्वास से हम कार्य करें तो सुधार का विरोध, जिससे हमारा मन कभी कभी खिन्न हो जाता है, निरंतर उद्योग का साधन बन जाय। मेरी इच्छा है कि आप सब लोग गत मासों की घटनाओं को इसी भाव से देखें और जो मैंने इस स्थान से कहा है उससे यदि इस प्रकार के भाव उदय हों तो मुझे पूरी आशा है कि आप लोग इस कान्फरेंस में व्यर्थ नहीं आए"।

पूना के झगड़े के बाद कांगरेस-मंडप में कान्फरेंस करने का विरोध कहीं नहीं हुआ। काशी ऐसे स्थान में भी कान्फरेंस बड़े जोर के साथ हुई।

अब कहीं कहीं जिलों और नगरों में भी समाज-संशोधन संबंधी कान्फरेंसें होने लगी हैं। देश में अनेक संस्थाएँ समाज की विशेष विशेष बुरी रस्मों को दूर करने के लिये स्थापित हैं। कोई स्त्रियों की अवस्था के सुधार का प्रयत्न करती है, कोई अछूत जातियों की दुर्गति के सुधार का उद्योग करती है, कोई विवाह-संस्कारों की कुरीतियों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित करती है। इस प्रकार समाज-संशोधन के विचार सारे देश में फैल रहे हैं। अनेक जातियों में जैसे क्षत्रिय, वैश्य, जायसवाल प्रभृति सभाओं द्वारा सामाजिक उन्नति की पुकार सुनाई दे रही है; बाल-विवाह-निषेध, स्त्री-शिक्षा-प्रचार, विवाहादि में अपव्ययों को रोकना इन विषयों का अब बहुत कम विरोध होता है। एक समय था जब स्त्रियों को पढ़ाना लोग बुरा समझते थे, जब बुड्ढों का विवाह छोटी कन्याओं के साथ होने पर किसी के कान नहीं खड़े होते थे, पर बाल-विधवा के विवाह का नाम सुनकर लोग कान में उँगली डाल लेते थे, जब समुद्र पार करके विदेश से शिक्षा अथवा अनुभव प्राप्त करके आना महापातक समझा जाता था, जब सहभोज से ग्लानि होती थी, जब बिरादरी की सीमा से बाहर प्रेम और सहानुभूति का नाम नहीं था। इन सबमें अब परिवर्तन हो रहा है।

महिला परिषद्

१९०४ में, जब बंबई में १८वीं कान्फरेंस हुई थी,

महिला परिषद् भी हुई। उसमें रमाबाई रानडे ने, १९०५ में काशी में प्रतापगढ़ की रानी रामप्रिया ने और १९०६ में कलकत्ते में महारानी बड़ोदा ने प्रधान का आसन ग्रहण किया था। कान्फरेंस में समाज-संशोधन संबंधी सब विषयों पर विचार होता था पर इसमें केवल स्त्रियों के सुधार-संबंधी विषयों पर व्याख्यान होते थे। इसमें स्त्रियाँ ही शरीक होती थीं। इसके अधिवेशनों का रूप अब बदल गया है। चारों तरफ स्त्रियों में जाग्रति के लक्षण दिखलाई देते हैं।

कान्फरेंस में रानडे के व्याख्यान और उनके विचार

रानडे प्रत्येक कान्फरेंस में बराबर व्याख्यान देते थे। पहले कई वर्ष के अधिवेशनों में वे किसी विषय पर प्रस्ताव उपस्थित करते समय कुछ कह दिया करते थे परंतु पीछे से उन्होंने लंबे प्रारंभिक व्याख्यान देने आरंभ कर दिए थे। ये बड़े विचारपूर्ण, विचार-उत्तेजक और सामयिक होते थे, जैसा कि निम्नलिखित विषय-सूची से प्रतीत होगा—

ग्यारहवीं कान्फरेंस (अमरावती), "पुनरुज्जीवन और सुधार"।

बारहवीं कान्फरेंस (मद्रास), "एक शताब्दी पूर्व दक्षिणी भारत"।

तेरहवीं कान्फरेंस (लखनऊ), "भारत एक सहस्र वर्ष पूर्व"। इसी व्याख्यान का दूसरा शीर्षक "न मैं हिंदू हूँ न मुसलमान"।

चौदहवीं कान्फरेंस (लाहौर) "वशिष्ठ और विश्वामित्र"।

इन व्याख्यानों के अतिरिक्त सोशल कान्फरेंस के उद्देश्यों पर उन्होंने जो व्याख्यान प्रयाग के दूसरे अधिवेशन में दिया था, बड़े महत्त्व का है। इसी विषय पर नागपुर में पाँचवें अधिवेशन के समय भी वे बोले थे।

प्रयाग के छठे अधिवेशन में "सामाजिक विकास", लाहौर के सातवें अधिवेशन में "सामाजिक उन्नति की सच्ची कसौटी" और अन्य अधिवेशनों में उस वर्ष के सुधार के इतिहास अथवा सुधार के प्राचीन इतिहास संबंधी व्याख्यान पढ़ने और मनन करने योग्य हैं।

कान्फरेंस के उद्देश्यों के संबंध में उनका विचार यह था कि यह किसी प्रकार की कार्यकर्त्री संस्था नहीं है। इसका उद्देश्य केवल सुधार संबंधी जाग्रति पैदा करना है। वे कहते थे कि जिस प्रांत में कान्फरेंस होती है वहाँ के लोग सुधार संबंधी विषयों पर सोचने लगते हैं। उनमें से जिनमें देशसेवा का भाव अधिक रहता है वे कोई संस्था खोलकर या अपने कर्त्तव्यों द्वारा सब प्रकार के सुधार अथवा किसी विशेष सुधार की चरचा फैलाने लगते हैं। अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये कान्फरेंस—आर्य-समाज, प्रार्थना-समाज, ब्रह्म-समाज, देव-समाज, सनातनधर्म सभाओं और अन्य संस्थाओं से सहायता लेने में संकोच नहीं करती। इन संस्थाओं के धार्मिक सिद्धांतों से कान्फरेंस से कोई संबंध नहीं। रानडे

की सफलता का कारण यही था कि उन्होंने सामाजिक सुधार को धर्म अथवा मतमतांतर से अलग रखा। रानडे का विश्वास था कि सुधार अवश्य होगा; शिक्षा-प्रचार, वर्तमान समय की अवस्था और अन्य कारणों से अब सुधार रुक नहीं सकता। अँगरेजी राज्य को वे सुधार का सहायक समझते थे। वे बहुधा कहा करते थे कि अँगरेज न केवल हमारे राजा हैं बल्कि हमारे पथ-प्रदर्शक हैं। सरकारी कानून की सहायता से कुरीतियों को दूर करने के वे पक्षपाती थे। इस विषय पर उनका एक लेख "State Legislation in social matters" बड़े महत्त्व का है। उनका मत था कि राजनीतिक कारणों से हमारे देश ने अनेक कुरीतियों का ग्रहण किया। फिर उन्हीं कारणों को सुधार का साधन बनाने में क्या हर्ज है? अँगरेज राज्य के आरंभ काल के शासक भारत की सामाजिक उन्नति में पूरी सहायता देते थे। सती की चाल कानून द्वारा दूर की गई, विधवा-विवाह के संबंध में कानून बना, भिन्न भिन्न जाति के लोगों में, जो मतमतांतर के बंधन से रहित हैं, विवाह करने के लिये कानून बना। संभोग सम्मति के कानून के बाद सरकार ने कोई सामाजिक सुधार का कानून नहीं बनाया। जब कभी कोई कानून कौंसिल में पेश भी हुआ, सरकारी सभासदों की बहु-सम्मति से वह पास नहीं हुआ। इसके विपरीत देशी रियासतों में बाल-विवाहादि के विरुद्ध कानून बनते जाते हैं।

बहुधा यह प्रश्न उठता है कि सुधार अच्छा अथवा पुनरुज्जीवन। इस विषय पर रानडे ने अपने अमरावती के व्याख्यान में अन्य बातों के अतिरिक्त निम्नलिखित ओजपूर्ण वाक्य कहे थे—

"हम किन रीतियों को पुनर्जीवित करें ? क्या हम अपने उस समय के पुरुषाओं की चाल को पुनरुज्जीवित करेंगे जब हम लोगों की सबसे पवित्र जाति ने मांस और मदिरा के व्यसनों में पड़कर देश के किसी प्रकार के जीव और वनस्पति को नहीं छोड़ा था, जिसको हम लोग आजकल बुरा समझते हैं ? उस समय के मनुष्य और देवता इस प्रकार निषिद्ध वस्तुओं को खाते पीते थे कि कोई भी प्राचीन बातों को पुनरुज्जीवित करनेवाला इस समय उनके प्रचार की व्यवस्था देने का साहस न करेगा। क्या हम पुत्रों के बारह और विवाह के आठ प्रकारों को, जिनमें से असुर और गांधर्व-विवाह भी हैं, पुनरुज्जीवित करेंगे ? क्या हम विधवा भौजाई से नियोग द्वारा पुत्र उत्पन्न करने की प्रथा को पुनरुज्जीवित करेंगे ? क्या हम ऋषियों और ऋषिपत्नियों के वैवाहिक जीवन की स्वतंत्रता को पुनरुज्जीवित करेंगे ? क्या हम उन यज्ञों को, जो वर्ष प्रति वर्ष हुआ करते थे और जिनमें देवताओं को प्रसन्न करने के लिये पशुओं की बात ही क्या नर-बलि तक हुआ करती थी, पुनरुज्जीवित करेंगे ? क्या हम वाममार्ग के अश्लील कुकर्म-मय शक्तिपूजन को पुनरुज्जीवित करेंगे ? क्या हम सती, बच्चों के मार डालने, जीवित मनुष्यों को नदियों में या

चट्टानों पर फेंक देने, या चरक या श्री जगन्नाथ के रथ के नीचे दबने की प्रथाओं को पुनरुज्जीवित करेंगे ? क्या हम ब्राह्मणों और क्षत्रियों के आंतरिक झगड़ों को अथवा दस्युओं के साथ निर्दय व्यवहार और उनको पद-दलित करना फिर से जारी करेंगे ? क्या हम बहु-पत्नी और बहु-पति की प्रथा को फिर से चलाएँगे ? क्या हम ब्राह्मणों को जमींदार और धनिक बनाने से रोकेंगे और प्राचीन समय की नाईं उनको भिखारी और राजाश्रित बना देंगे ? इन उदाहरणों से भली भाँति मालूम हो जायगा कि प्राचीन रीति और रस्मों के पुनरुज्जीवित करने से देश की मुक्ति नहीं होगी और न यह कार्यक्रम में लाया जा सकता है।"

रानडे के इन वाक्यों से बहुधा लोगों को यह भ्रम हो जाता है कि वे नवीन अँगरेजी खयालों के भारतवासी थे जो प्राचीन बातों को बुरा समझते हैं। परंतु यह भ्रम मात्र है। वे सच्चे प्राचीनाभिमानी थे। "प्राचीन" शब्द के अंतर्गत वे सौ दो सौ वर्ष पहले की अवस्था को नहीं मानते थे। वे कहते थे कि बिगड़ी अवस्था को सुधारना आवश्यक है। केवल पुनरुज्जीवन से काम नहीं चलेगा। समाज जीवधारियों का समूह है। एक स्थान पर सदा नहीं रह सकता। सुधारकों में दो दल के लोग हैं। एक कहते हैं कि जो कुछ शास्त्रों के अनुसार हो वही ठीक सुधार है। ये जातीयता की नींव पर सुधार का गृह-निर्माण करना चाहते हैं। दूसरे

यह चाहते हैं कि जो कुछ युक्तियुक्त हो वही ग्राह्य है अन्यथा सब व्यर्थ और अनावश्यक है। परंतु इन दोनों दलों की विभिन्नता निर्मूल है। शास्त्र भी युक्ति पर निर्भर हैं। यदि ऐसा न होता तो शास्त्रों में जिसको परस्पर विरोध कहते हैं, न होता। समयानुसार ऋषिगण सिद्धांतों में आवश्यक परिवर्तन किया करते थे। इसलिये शास्त्रों के प्रति भारत-जनता में जो श्रद्धा मौजूद है उसको सुधार का सहायक बनाना चाहिए। शास्त्र के भरोसे सुधार से प्रीति करनेवालों में दृढ़ता और साहस के उदाहरण अधिक मिलते हैं। अँगरेजी ढँग के सुधारक केवल पोशाक और रहन सहन बदलने मात्र को पर्याप्त समझते हैं। रानडे के सुधार संबंधी विचारों का गौरव निम्नलिखित पंक्तियों से, जो भिन्न भिन्न व्याख्यानों से उद्धृत की गई हैं, प्रकट हो जायगा—

(१) "इस महान् देश का इतिहास केवल परियों की कथा मात्र रह जाता यदि इससे इस बात का प्रमाण न मिलता कि बाहर के प्रत्येक आक्रमण ने यहाँ की ईश्वर-रक्षित जाति में तपस्या और तप का काम किया जिससे वह धीरे धीरे उच्च आदर्श की ओर उन्नत हुई। यह आदर्श कर्त्तव्य रूप में प्रकट नहीं हुआ परंतु छिपी हुई शक्तियों के विकास में। जाति में कभी ऐसी उत्साह-हीनता उत्पन्न नहीं हुई कि वह सब शुभ आशाओं को तिलांजलि दे दे। थोड़े दिनों के लिये विदेशी आक्रमणों के प्रभाव में डूबकर फिर अपना सिर ऊँचा कर लेती और

विदेशी सभ्यता, धर्म और नीति से जो कुछ अति उत्तम होता उसको स्वीकार कर लेती।" (१८९२ का व्याख्यान)

(२) "इस आंतरिक स्वतंत्रता में हमें क्या करना है ? मैं उत्तर दूँगा कि जिस विकास की हम मनोकामना कर रहे हैं वह है परिवर्त्तन, बंधन से स्वतंत्रता में—वह बंधन जिसे हमारे दुर्बल स्वभाव ने हमारी उच्च शक्तियों की स्वतंत्रता पर डाला है। यह परिवर्त्तन मिथ्या विश्वास से भक्ति की ओर है—मिथ्या विश्वास से जो बिना सोचे बात मान लेता है, भक्ति की ओर जो प्रबल नींव पर भवन बनाती है। जीवन में हमारी स्थिति, हमारा धर्म और हमारे कर्मों की सीमा निःसंदेह बहुत कुछ उस अवस्था पर निर्भर है जिस पर हमारा कोई अधिकार नहीं है तिस पर भी हमारे कार्यों में स्वतंत्रता की मात्रा बहुत है। हम जान बूझकर इस मात्रा को घटा देते हैं, अपने को हथकड़ियों से बाँध देते हैं और उस पर घमंड करते हैं, जैसे बंबई का वह मुसलमान फकीर जो भारी जंजीरों से अपने को बाँधकर समझता है कि मैं पहुँचा हुआ फकीर हूँ। जिस प्रकार के परिवर्तन की हमें इच्छा करनी चाहिए वह बंधन से स्वतंत्रता, मिथ्या विश्वास से भक्ति, अचल अवस्था से उद्योग, विश्वास से मुक्ति, प्रशासित जीवन से संगठित जीवन, स्वमताग्रह से उदार विचार, भाग्य में अंध-विश्वास से मानुषीय गौरव के सद्भाव की ओर होना चाहिए। सामाजिक विकास का मैं यही अर्थ लगाता हूँ

और यह इस देश के व्यक्तियों और संस्थाओं दोनों पर घटता है।" (१८९२ का व्याख्यान)

(३) "प्राचीन काल से हम बिल्कुल अलग नहीं हो सकते। अपनी प्राचीनता के भाव से हमें दूर होना भी नहीं चाहिए क्योंकि यह बहुमूल्य संपत्ति है और इससे हमको लज्जित होने का कोई कारण भी नहीं है।" (१८९२ का व्याख्यान)

(४) "मुझे अपने धर्म के दो नियमों में दृढ़ विश्वास है। यह हमारा देश भविष्य में सचमुच ही स्वर्ग होगा, यह हमारी जाति ईश्वर-रचित जाति है। परमेश्वर ने व्यर्थ इस प्राचीन आर्यावर्त देश पर अपने उपकारों की बौछार नहीं की है। हम भगवान् के दर्शन अपने इतिहास के पृष्ठों में करते हैं। अन्य देशों से बढ़कर हमने ऐसी सभ्यता, ऐसा धर्म और ऐसी सामाजिक नीति अपने पुरुषाओं से पाई है जिन्होंने संसार के कार्यक्षेत्र में वर्षों तक बे रोक-टोक वृद्धि प्राप्त की। यहाँ कोई विप्लव नहीं हुए परंतु समयानुसार पुरानी अवस्था में धीरे धीरे सुधार होता रहा।" (१८९३ का व्याख्यान)

(५) "बहुत से लोग समझते हैं कि इस जर्जरित हिंदू-जाति से अलग ही होकर अपनी रक्षा करना परम कर्तव्य है। मैं इस विचार का विरोध ३० वर्ष से कर रहा हूँ और जब तक मुझमें जीवन है और जब तक मेरी भाषण-शक्ति मुझे बोलने देगी, मैं इसका विरोध करूँगा। हिंदू-समाज क्षीण और भ्रष्ट अवस्था में नहीं है। यह निःसंदेह नवीन बातों का विरोध

करता है परंतु यह अवगुण नहीं है वरंच गुण है। कोई जाति जो अपना मत, अपनी रीति, अपना रहन सहन जिस प्रकार "फैशन" बदलता है बदलती रहती है, वह इतिहास में स्थान नहीं पा सकती। परंतु इस देश ने नवीन विचारों के प्रादुर्भाव और नवीन रीतियों के प्रचार को कभी रोका नहीं।" (१८९३ का व्याख्यान)

इन विचारों से भली भाँति प्रमाणित हो जाता है कि रानडे पुनरुज्जीवन के विपक्षी इस कारण न थे कि उनको भारत के प्राचीन इतिहास में विश्वास नहीं था। सच्चे सुधारक वे ही हैं जो नवीन अवस्था के अनुसार, जातीयता और समाज की अभिरुचि को दृष्टि में रखकर अपने जीवन द्वारा देश में उदाहरण बनते हैं। रानडे ऐसे ही महानुभाव थे। प्रौढ़ मस्तिष्क, पवित्र जीवन, नम्र स्वभाव, सूक्ष्म दृष्टि आदि गुणों का एक ही मनुष्य में मिलना बिरले ही होता है।

---

(१२) रानडे के राजनैतिक विचार और उनका प्रभाव

रानडे सरकारी नौकर थे। सरकारी नौकर राजनैतिक संस्थाओं में शरीक नहीं हो सकते और न ऐसे विषयों पर साधारणत: अपनी सम्मति दे सकते हैं। पर यह संभव नहीं था कि रानडे ऐसा देशहितैषी, देश देशांतरों के इतिहास का

जाननेवाला भारत की राजनैतिक अवस्था के सुधार के काम से दूर रहता। उनके समय में सरकारी नियम भी कठोर नहीं थे इसलिये सरकारी नौकर भी थोड़ा बहुत राजनैतिक कार्य करते थे। रानडे पूना-सार्वजनिक सभा का सब काम करते थे। यह बात सरकार पर प्रकट भी थी।

भारत संबंधी समाचार जो इन दिनों विदेश भेजे जाते थे उनमें जातीयता की झलक नहीं आने पाती थी। कभी कभी तो ऐसी बातें फैलाई जाती थीं जो सर्वथा हिंदुस्तान को राजनैतिक हानि पहुँचानेवाली थीं। जनवरी १८८५ में काशीनाथ त्र्यंबक तैलंग ने प्रोफेसर वर्ड्सवर्थ के घर पर इस विषय पर विचार करने के लिये एक सभा की थी। उसमें दादाभाई, फिरोजशाह आदि नेताओं के साथ साथ रानडे भी उपस्थित थे और उसमें यह नियम हुआ था कि भारतवासियों की एक स्वतंत्र एजेंसी स्थापित की जाय जिसके द्वारा तार समाचार प्रति सप्ताह विलायत भेजे जाया करें।

रानडे के राजनैतिक विचार प्रायः वे ही थे जो कांगरेस के थे। कांगरेस की नींव डालनेवालों में उनका भी नाम गिना जाता है। कांगरेस के प्रथम अधिवेशन में वे शरीक भी हुए थे। यों तो वे प्रायः हर एक अधिवेशन में जाते थे और विषय निर्धारित करनेवाली समिति में अपनी सलाह भी दिया करते थे परंतु पहली कांगरेस के अतिरिक्त किसी में उन्होंने व्याख्यान नहीं दिया।

पहली कांगरेस बंबई में सन् १८८५ में हुई थी। उस समय बहुत से सरकारी नौकर उसमें उपस्थित हुए थे। दूसरे दिन (२९ दिसंबर) के अधिवेशन में यह प्रस्ताव उपस्थित किया गया था कि सेक्रेटरी ऑव स्टेट की कौंसिल तोड़ दी जाय। इस पर कई व्याख्यान हुए। कुछ मत-भेद भी हुआ। अधिक लोग तोड़ने ही के पक्ष में थे। एक महाशय ने सलाह दी कि इस कौंसिल में जनता की ओर से सभासद चुना जाया करे। इसी विषय पर रानडे ने एक छोटी वक्तृता दी थी।

तीसरे दिन (३० दिसंबर को) रानडे के विचारों का उत्तर उनके प्रसिद्ध और परम भक्त शिष्य काशीनाथ त्र्यंबक तैलंग ने दिया था और अंत में यही प्रस्ताव पास हुआ कि कौंसिल तोड़ दी जाय।

१८८५ में भारतवासियों की राजनैतिक अवस्था विलायत के सर्वसाधारण पर विदित करने के लिये श्री मनमोहन घोष प्रभृति कुछ प्रसिद्ध भारतवासी विलायत गए थे। वहाँ वित-रण करने के लिये कुछ छोटी पुस्तकें लिखी गई थीं, उनमें से "India's appeal to the English electors" नाम की पुस्तक का बहुत सा अंश रानडे का लिखा हुआ था।

१८९२ में श्री आनंद चारलू कांगरेस के मंत्री थे। वे चाहते थे कि इस काम को छोड़ दें परंतु रानडे ने उनसे कहा कि मैं अगले वर्ष सरकारी नौकरी छोड़कर कांगरेस के मंत्री का काम करूँगा। एक वर्ष आप और निभा दीजिए। आनंद

चारलू ने मान लिया पर दूसरे वर्ष रानडे हाईकोर्ट के जज बना दिए गए। फिर आगे चलकर पेंशन लेने की नौबत ही न आई।

कांगरेस की उत्पत्ति के पूर्व रानडे पूना सार्वजनिक सभा द्वारा वर्षों तक राजनैतिक कार्य कर चुके थे। कांगरेस में आकर उनको विशाल क्षेत्र मिलता।

१८९९ में बंबई में दादाभाई नौरोजी की मूर्ति का उद्घाटन हुआ। इस उत्सव के रानडे सभापति बनाए गए थे। उस व्याख्यान में उन्होंने दादाभाई के उपकारों को मुक्त कंठ से स्वीकार किया। उन्होंने कहा कि अँगरेज़ी राज्य स्थापित होने से लेकर अब तक के समय को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। एक समय तो युद्ध और विजयप्राप्ति का था और दूसरा राज्य को जमाने और सुधारने का। दूसरे काम में दादाभाई ऐसे देश-भक्तों का बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होंने अपने व्याख्यान में भारत की दरिद्रता के संबंध में दादाभाई के विचारों का समर्थन किया और अपनी सम्मति दी कि दादाभाई के विचारों में कहीं भी लेशमात्र राज-विद्रोह नहीं है। उस समय लार्ड जार्ज हेमिल्टन सेक्रेटरी ऑव स्टेट थे जिनके विचारों से भारत-वासी असंतुष्ट थे। रानडे ने इस व्याख्यान में लार्ड जार्ज हेमि-ल्टन का खंडन किया। उन्होंने यह भी कहा कि मैं दादाभाई का शिष्य हूँ, उनके चरणों में बैठकर मैंने शिक्षा पाई है। उस समय दादाभाई की प्रशंसा करना असाधारण हिम्मत की बात थी क्योंकि उनको सरकारी लोग राजविद्रोही समझते थे।

कांगरेस में जिन विषयों पर प्रस्ताव पास होते हैं उन पर पहले विषय-निर्धारिणी समिति में विचार होता है। इस समिति की उत्पत्ति इस प्रकार हुई। १८८७ में मद्रास में कांगरेस हुई थी। उसमें उपस्थित विषय के विरुद्ध एक नवयुवक ने बड़ी कड़ी स्पीच दे डाली। सभापति रोकते ही रहे परंतु वह जवान बोलता ही गया और उसने एक प्रकार से कोलाहल मचा दिया। रानडे उपस्थित थे। उन्होंने नवयुवक का साथ दिया और सभापति को सलाह दी कि कांगरेस में आने से पूर्व प्रत्येक विषय पर प्रतिनिधियों द्वारा विचार हो जाना चाहिए। तब से ऐसा ही होने लगा। अब जो कुछ मत-भेद और कोलाहल-उत्पादक बातें होती हैं, उसी सभा में ठंढी हो जाती हैं। रानडे और तिलक में अनेक बातों में मत-भेद था पर तिलक राजनैतिक बातों में रानडे को सदा अग्रगण्य मानते रहे। कई वर्षों तक दोनों ने मिलकर सार्वजनिक सभा में काम किया था।

प्रिंसिपल रघुनाथ पुरुषोत्तम परांजपे ने दिसंबर १८९५ की 'फर्ग्युसन कालेज मेगजीन' में सर फिरोजशाह मेहता का जीवन-चरित लिखा था। उसमें वे लिखते हैं कि "सच तो यह है कि फिरोजशाह के अनेक व्याख्यान रानडे के विचार थे और फिरोजशाह के शब्द थे।"

इस प्रकार गर्म दल और नर्म दल के नेताओं को अपने साथ रखना रानडे का विशेष गुण था, यद्यपि ये दल वर्तमान काल की नाईं उस समय नहीं बने थे।

भारत की आर्थिक अवस्था पर विचार करने के लिये विलायत में वेल्बी कमीशन नाम की एक सभा बैठी थी। उसमें जाकर भारत के कई नेताओं ने अपने विचार प्रकट किए थे। उनमें से गोखले और सुरेंद्रनाथ बैनरजी के विचार रानडे की सम्मति से लिखे गए थे। एक बार रानडे के भी इसी संबंध में विलायत भेजे जाने की चर्चा उठी थी। परंतु सरकार ने इस प्रस्ताव को पसंद नहीं किया।

राजनैतिक विचारों के कारण रानडे को अनेक बार कष्ट उठाने पड़े। उन पर सरकार के उच्च अधिकारी संदेह की दृष्टि रखते थे। उस समय के गवर्नर उनको हाईकोर्ट की जजी भी देना नहीं चाहते थे परंतु उनकी योग्यता भारत में विख्यात हो चली थी इसलिये भारतीय सरकार ने उन्हीं को नियुक्त किया।

संदेह की दृष्टि से देखे जाने पर और कष्ट उठाने पर भी वे सदा यही कहते थे कि अँगरेजी राज्य परमेश्वर की देन है। वे इसको इतिहासवेत्ता की दूर तक देखनेवाली दृष्टि से देखते थे। उनका विश्वास था कि जब मुसलमान शासक दुश्चरित्र हो गए और जब हिंदुओं में से सिक्ख और महाराष्ट्र कई बार कृतकार्य होकर भी आपस की फूट को दूर न कर सके तब आवश्यक था कि ऐसी जाति हमारे देश पर शासन करे जो देश के संकीर्ण भावों को विशाल कर दे और बिखरी हुई शक्तियों को एक कर दे। परमेश्वर को मंजूर था कि भारत जीवित रहे इसी लिये अँगरेजों का राज्य इस देश में स्थापित

हुआ। रानडे ने अनेक बार सरकारी शासन में दोष बतलाए; परंतु अँगरेज जाति से न्याय-प्राप्ति की आशा उन्होंने कभी भी नहीं छोड़ी, यहाँ तक कि जब सरकार उन पर राजविद्रोही होने का संदेह करती थी, जिसके कारण वे धुले बदले गए और उनकी चिट्ठियाँ खोलकर पढ़ ली जाती थीं, तब भी उन्होंने अपने मुँह से एक भी कठोर शब्द नहीं कहा। गोखले कहते थे कि एक दिन मुझसे उनसे इस विषय पर बातचीत आई, उन्होंने कहा—"ओह, वर्त्तमान अवस्था में ऐसी घटनाओं का होना कोई आश्चर्य नहीं। हमें यह भी तो नहीं भूलना चाहिए कि उनके स्थान पर यदि हम लोग होते तो इससे बहुत ही अधिक खराबियाँ होतीं।"

रानडे के ये विचार वर्षों के अनुभव और इतिहास के ग्रंथों के अवलोकन और मनन के अनंतर हुए थे। जवानी में उनके विचार बड़े गर्म थे। जब वे कालेज में पढ़ते थे, उन्होंने एक निबंध लिखा था जिसमें महाराष्ट्र-राज्य की बड़ी प्रशंसा करते हुए अँगरेजी राज्य की बड़ी निंदा की थी। उनके अध्यापक सर एलेकजेंडर ग्रैंट ने, जो एलिफिस्टन कालेज के प्रिंसिपल थे और जो रानडे की योग्यता के कारण उनसे बड़े प्रेम का व्यवहार करते थे, उनको अपने पास बुलवा भेजा और उनकी भूल बतलाकर उनसे कहा—"हे नवयुवक, तुमको उस सरकार की निंदा नहीं करनी चाहिए जो तुम्हें शिक्षा दे रही है और जो तुम लोगों के साथ इतनी भलाई कर रही है।"

प्रिंसिपल महोदय ने अपनी अप्रसन्नता प्रकट करने के लिये छः महीने तक रानडे की छात्रवृत्ति रोक ली थी। गोखले कहते हैं—"इस घटना के कारण रानडे के चित्त में उनके लिये कभी किसी प्रकार दुर्भाव नहीं उत्पन्न हुआ; क्योंकि वे सदा अत्यंत श्रद्धा और प्रशंसा से उनका नाम लेते थे।" रानडे का यह विश्वास आयु पाकर बढ़ता जाता था कि अँगरेजी राज्य में भारतवर्ष भारतवासियों के उद्योग करने पर बड़ी उन्नति कर सकता है। उनका ध्येय Dominion Home Rule था।

रानडे की मृत्यु के बाद कांगरेस का जो अधिवेशन १६०१ में कलकत्ते में हुआ था उसमें एक विशेष प्रस्ताव उनकी मृत्यु पर दुःख प्रकट करने के लिये पास किया गया था।

स्वागतकारिणी सभा के सभापति महाराज बहादुर नाटोर ने उनकी मृत्यु पर शोक प्रकट करते हुए कहा—"रानडे यद्यपि हमारे अंग नहीं थे परंतु सदा हमारे साथ थे।" उनके विचारों के प्रभाव के संबंध में उन्होंने कहा—"राजा राममोहन राय के अनंतर भारत में कोई ऐसा पुरुष नहीं हुआ जिसने हमारी समस्त जातीय आवश्यकताओं पर एक समान दृष्टि डाली हो—राजनैतिक और आर्थिक ही नहीं, सामाजिक और धार्मिक आवश्यकता पर भी।"

इसी प्रकार सभापति दीनशा एदलजी वाचा ने नवीन शताब्दी के आरंभ होते ही ऐसे महापुरुष की मृत्यु से भारत

की हानि दिखलाते हुए रानडे की समता प्रसिद्ध महात्मा सुकरात से की थी।

रानडे की मृत्यु के बाद आज भी उनके राजनैतिक विचारों की कदर की जाती है। गोखले महोदय ने कानून संबंधी कई प्रस्ताव पेश करते हुए रानडे के विचारों का उल्लेख किया है।

दक्षिण अफ्रीका के भारतीय निवासियों की अवस्था के संबंध में, जिस पर आजकल इतना आंदोलन हुआ है, रानडे के विचार वे ही थे जो आज समस्त भारतवासियों के और भारतीय सरकार के हैं। उनके जीवित काल में भी एक बेर आंदोलन उठा था। स्वयं महात्मा गाँधी को स० १८९६ में भारतवर्ष आना पड़ा था, हिंदू यूनियन क्लब बंबई में उन्होंने बतलाया था कि नेटाल, केप कौलोनी और ट्रांसवाल में हिंदुस्तानी सड़क की पटरियों पर नहीं चलने पाते, रेल में अव्वल दर्जे में सफर नहीं कर सकते, होटलों में ठहरने नहीं पाते। रानडे से इस विषय पर गाँधोजी बहुत पहले से पत्र-व्यवहार कर रहे थे और वे उनकी सलाह पर चला करते थे। उस अवसर पर रानडे ने जो व्याख्यान दिया था उसको गोखले बड़ा उत्तम समझते थे। गोखले की सम्मति में उससे अच्छा व्याख्यान सुनने का अवसर उनको प्राप्त नहीं हुआ था। धारवार की सोशल कान्फरेंस में १९०३ में गोखले ने कहा था—"रानडे ने (इस अवसर पर) अपने स्वभाववत् दक्षिणी अफ्रीका के भारतवासियों के उस संग्राम में, जो वे मरदानगी के साथ कर रहे थे, पूरी

सहानुभूति प्रकट की। वे इस बात से प्रसन्न हुए कि विदेश में रहनेवाले भारतवासियों की स्थिति पर लोगों के चित्त में जाग्रति उत्पन्न हुई जिससे इस बात का प्रमाण मिलता है कि निरुत्साही कहे जानेवाले हिंदुस्तानियों की मुर्दा हड्डियों में भी जान आ गई। परंतु आगे चलकर उन्होंने पूछा—

"क्या यह सहानुभूति केवल उन्हीं स्वदेशी भाइयों के साथ है जो भारत के बाहर रहते हैं? अथवा यह सबके साथ है और जहाँ जहाँ अन्याय और संकट है वहाँ वहाँ इस सहानुभूति का विस्तार होता है?" उन्होंने कहा—"विदेशियों को बुरा कहना सहल है परंतु न्याय यही है कि जो ऐसा करते हैं वे आत्म-परीक्षा करें और जाँचें कि क्या वे इस संबंध में बिल्कुल निर्दोषी हैं।" इसके अनंतर उन्होंने बतलाया कि भारत के भिन्न भिन्न भागों में हमारी जाति के लोग नीच जातिवालों से कैसा बर्ताव करते हैं। इस वर्णन को सुनकर श्रोतागण को लज्जा आई और दुःख हुआ। रानडे ने तब पूछा, और यह पूछना ठीक भी था कि "क्या यह न्याययुक्त है कि वे लोग जो अपने देश में ऐसा लज्जास्पद क्लेश और अन्याय होने देते हैं दक्षिणी अफ्रीका के लोगों को बुरा कहें?" गोखले कहते हैं कि रानडे का यह स्वभाव था कि जब कभी देश में अशांति फैलती थी तो वे उसका कारण अपने ही पापों का फल बतलाया करते थे।

---

(१३) ग्रंथ-रचना

रानडे अपने विचार बहुधा व्याख्यानों और लेखों द्वारा प्रकाशित करते थे। सोशल कान्फरेंस और अन्य संस्थाओं में जो वक्तृताएँ उन्होंने दीं और सार्वजनिक सभा की पत्रिकादि में जो लेख उन्होंने लिखे थे उनको उच्च श्रेणी का साहित्य समझना चाहिए।

महाराष्ट्रों का अभ्युदय

उनके ऐतिहासिक ग्रंथों में सबसे महत्त्व की पुस्तक महाराष्ट्रों का अभ्युदय (Rise of the Marhatta Power) है। इसको काशीनाथ त्र्यंबक तैलंग और रानडे दोनों मिलकर लिखना चाहते थे परंतु तैलंग की मृत्यु के कारण यह कार्य रानडे ही को करना पड़ा। यह पुस्तक सन् १९०० में छपकर प्रकाशित हुई थी। इसका प्रथम भाग छप जाने पर उन्होंने दूसरा भाग लिखना आरंभ किया परंतु दो तीन अध्याय भी समाप्त नहीं कर सके थे कि उनको संसार छोड़ना पड़ा। मृत्यु के दो तीन वर्ष पहले से रानडे महाराष्ट्र जाति के इतिहास के ग्रंथ अधिक पढ़ा करते थे। पेशवाओं की दिनचर्य्या, जो साहू राजा के गद्दी के बैठने के समय से आरंभ होती है और दूसरे बाजीराव के समय समाप्त होती है और जिसमें प्राय: २०,००० पृष्ठ हैं, उन्होंने खूब पढ़ी थी। "पेशवाओं की दिनचर्य्या की भूमिका" नाम का लेख उन्होंने

जून १९०० में बंबई की रायल एशियाटिक सोसाइटी की शाखा सभा में पढ़ा था। उसी सभा में १६ फरवरी १८९९ को "महाराष्ट्र राज्य में सिक्के और टकसाल" शीर्षक लेख उन्होंने पढ़ा था। इन लेखों और उनकी पुस्तक से महाराष्ट्र समय का निर्मल वृत्तांत मिलता है। इनसे पता लगता है कि शिवाजी और अन्य महाराष्ट्र योद्धा लुटेरे नहीं थे। इनमें प्रबल प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया गया है कि इन लोगों की राज्य-प्रणाली बड़ी संगठित थी और इनके आचरण बड़े उत्कृष्ट थे।

रानडे का मत था कि महाराष्ट्र अभ्युदय का कारण औरंग-जेब का अत्याचार नहीं था। मुसलमानों का अत्याचार अभ्युदय में सहायक हुआ परंतु उसका कारण यह था कि कई वर्ष पहले से देश में जाग्रति के चिह्न दिखलाई दे रहे थे। इस जाग्रति का पहला स्वरूप धार्मिक था। शिवाजी ने इसको राजनैतिक स्वरूप दिया। ज्ञानेश्वर कवि ने १३वीं शताब्दी में पहले पहल इस जाग्रति का सँदेसा दिया। तुकाराम, रामदास, वामन इत्यादि ने, जो शिवाजी के सम-कालीन थे, अपना प्रबल प्रभाव डाला। रामदास शिवाजी के आचार्य हुए। गुरु धर्म-प्रवर्तक; शिष्य राजनीतिज्ञ। आचार्य और राजा दोनों मिलकर देशोद्धार की ओर लगे। शिवाजी तुकाराम के कीर्तन सुनने भी जाया करते थे। उनके अनंतर जब पेशवाओं का समय आया तब भी प्रमाण मिलता है कि पहले बाजीराव बिना ब्रह्मेंद्र स्वामी के पूछे कोई काम नहीं

करते थे। शिवाजी की 'अष्ट-प्रधान' आठ सचिवों की प्रणाली ही महाराष्ट्र अभ्युदय का और वही उसकी अवनति का कारण हुई। जब लों शिवाजी के आधिपत्य में सचिव लोग धर्म के बंधन से बँधे रहे, बराबर उन्नति होती रही। आगे चलकर सब अपनी खिचड़ी आप पकाने लगे। अष्ट-प्रधान में से धर्म का तंतु टूट गया। देश छोटे छोटे राज्यों में विभाजित होने लगा।

शिवाजी में जितनी वीरता थी और शासन करने का बल था उतना ही आत्मिक बल भी था। धन के अभाव और युद्ध की तमोत्पादक अवस्था में भी उन्होंने अपनी सेना को कठोर आज्ञा दे रखी थी कि स्त्रियों, खेत के पशुओं और कृषक लोगों को कोई न सताने पावे। इसके विपरीत दुश्मनों के सैनिक घोर अत्याचार करते थे। महाराष्ट्र सेना में यदि कोई स्त्री युद्ध के चक्कर में पड़कर आ निकलती तो वह तुरंत अपने पति के पास भेज दी जाती। जीत से प्रसन्न होकर शिवाजी ने कभी अपने सेना-पति और अन्य कर्मचारियों को जागीरें नहीं दीं और जब इसका प्रस्ताव किया गया तब विरोध किया। उनके उत्तराधिकारियों ने इसके विरुद्ध किया। परिणाम यह हुआ कि जिसको जागीर मिली वह स्वतंत्र राज्य स्थापित करने की चिंता करने लगा।

शिवाजी के संबंध में रानडे लिखते हैं—

"धार्मिक उद्वेग, प्रबल और आत्मदमन की सीमा तक पहुँचा हुआ; वीरता और साहस, जो इस विश्वास से उत्पन्न होते हैं कि मनुष्य की शक्ति से बढ़कर भी शक्ति है जो उसकी

म—१४

और उसके कर्मों की रक्षा करती है; उच्च श्रेणी की प्रतिभा को आकर्षण करनेवाला तेज, जो लोगों में एका पैदा करता है और उनको विजयी बनाता है; समय की सच्ची आवश्यकताओं को पहचानने की शक्ति, और अपने उद्देश्य के पूरा करने की ऐसी धुन, जो समय के पलट जाने पर भी हार न माने; ऐसा चातुर्य और समयोचित संयम जिसका उदाहरण यूरोपीय और भारतीय इतिहास में बिरले ही मिलता है, ऐसी देश-भक्ति जो अपने समय से बहुत पूर्व ही अंकुरित हो और न्याय जो दया से अभिन्न हो ये सब कारण थे जिनसे शिवाजी एक महान् राज्य के स्थापित करने में सफल हुए।"

शिवाजी की माता उनकी उन्नति का बहुत बड़ा कारण थीं। शिवाजी ने अपने राज्य को प्रांतों (जिलों) में विभाजित किया था। उनके पास २८० किले थे जिनमें युद्ध का पूरा सामान रहता था। जितना बड़ा किला होता था वैसे ही योधा और उतनी ही सेना वहाँ रखी जाती थी।

नौ सिपाहियों पर एक नायक होता था। प्रत्येक सिपाही को बँधा हुआ नकद और अनाज वेतन मिलता था। पुरानी प्रणाली यह थी कि राज्य कई भागों में विभाजित करके कर्मचारियों में बाँट दिया जाता था। ये लोग जो कुछ जमा करते उसी से उसका प्रबंध करते थे। थोड़ा राजा को भी उसमें से दे दिया करते थे। शिवाजी ने इस प्रणाली को बिल्कुल बदल दिया। बड़े छोटे सब कर्म-

चारियों को वेतन मिलने लगा और जो कुछ वे जमा करते सरकारी खजाने में दे देते। सिपाहियों को आज्ञा थी कि मुगलों के राज्य से चौथ जमा करें। वर्ष में आठ महीना उनको यही करना पड़ता था। सिपाही अपने साथ स्त्री और बच्चों को नहीं ले जाने पाते थे परंतु भरती होने से पहले उनको अपने चाल-चलन के लिये जमानत देनी पड़ती थी। विजयादशमीवाले दिन फौज में नए सिपाही भरती होते थे। राज्य भर के खेत नपवाए गए थे। हर एक खेत की पैमाइश, उसके मालिक का नाम इत्यादि लिखा गया था। जितनी उपज होती उसका २/५ वाँ हिस्सा सरकार ले लेती। आपस में झगड़ा होता तो पंच उसका निपटारा करते। हर एक प्रांत का हिसाब सचिव लोगों के पास भेजा जाता। पंतअमात्य और पंतसचिव ये दोनों पदाधिकारी राज्य का हिसाब किताब रखते और जाँचते थे। राज्यासन के नीचे दहनी ओर पहला स्थान पेशवा अथवा प्रधान सचिव का होता और बाईं ओर पहला स्थान सेनापति का। इसी प्रकार सुमंत, पंडित राव, न्यायाधीश इत्यादि अन्य सचिव बैठते। इन सबकी समिति को 'अष्ट-प्रधान' कहते थे। ये सब अधिकार योग्यतानुसार मिलते थे। परंपरागत कोई भी पद नहीं मिलता था। शिवाजी इसके बिल्कुल विरुद्ध थे कि जिस पद पर पिता हो उसी पद पर उसका पुत्र नियुक्त किया जाय। उस कुटुंब का भी कोई आदमी उस पद पर नहीं रखा जाता था। आगे

चलकर जब पेशवा का पद बाप के मरने पर बेटे को मिलने लगा तब अन्य पदाधिकारी भी काम में ढीले पड़ने लगे।

शिवाजी के समय से पूर्व संस्कृत शिक्षा की ओर लोगों की रुचि कम हो चली थी। शिवाजी ने 'दक्षिणा' की प्रणाली जारी की। बहुत सी जागीरें धर्मार्थ अलग कर दी गईं। उनसे जो आय होती वह उन ब्राह्मणों में बाँट दी जाती जो विद्यार्थियों को संस्कृत पढ़ाते थे। शिवाजी ने इसको नियम-बद्ध कर दिया। जिस पंडित के यहाँ अधिक विद्यार्थी हों अथवा उच्च विषयों की शिक्षा हो उसको अधिक 'दक्षिणा' मिलती थी। इस प्रकार उत्साहित होकर ब्राह्मण काशी आकर विद्याभ्यास करने लगे। इसके लिये भी उनको पुरस्कार मिलने लगा। इस प्रणाली को पेशवाओं ने भी जारी रखा जिनके समय में ५ लाख से अधिक प्रति वर्ष संस्कृत विद्या के प्रचार के लिये खर्च होता था। अँगरेजी गवर्नमेंट इसी धन से बंबई विश्वविद्यालय में छात्रवृत्ति देती है। रानडे स्वयं एक 'दक्षिणा' फेलो थे जिसका विवरण पहले दिया जा चुका है।

महाराष्ट्र-समय का यह अमूल्य ऐतिहासिक ग्रंथ है। इस स्थान पर दो विषयों पर जो इतिहासवेत्ता लोगों में भ्रम है, दूर कर देना आवश्यक है। एक शिवाजी के अफजलखाँ को मारने की कथा और दूसरे मरहठों के चौथ जमा करने की कथा।

बीजापुर सरकार ने ठान लिया कि शिवाजी को अब नीचा दिखलाना चाहिए। कई बार प्रयत्न करने पर भी उनको

सफलता नहीं हुई। इसलिये अपने सबसे बहादुर पठान सेनापति अफजलखाँ को बहुत बड़ी सेना लेकर सन् १६५९ के आरंभ में शिवाजी की ओर भेजा। अफजलखाँ ने पहले शिवाजी के बड़े भाई को करनाटक की लड़ाई में मरवा डाला था। इस बार उसने भरे दरबार में कहा कि मैं पहाड़ी चूहे (अर्थात् शिवाजी) को जीता या मरा हुआ ले आऊँगा। बीजापुर से वाई के रास्ते में तुलजापुर में अंबा भवानी (शिवाजी के कुल की देवी) और पंढरपुर में विठोबा के मंदिर पड़ते हैं। अफजलखाँ ने इनकी मूर्त्तियों को तुड़वा डाला और मंदिर में गौ का रक्त छिड़कवा दिया। शिवाजी के लिये यह असाधारण गंभीरता का समय था। उन्होंने 'भवानी' देवी की आराधना की और अपनी माता से आशीर्वाद माँगा। फौज लेकर वे भी आगे बढ़े। युद्ध के लिये एक स्थान चुन लिया गया। उन्होंने अपनी सेना को कृष्णा और कोयना नदी की घाटियों में ठहरा दिया। चारों तरफ जंगल था इसलिये उनकी सेना को वैरी देख नहीं सकते थे। अफजलखाँ ने अपनी सेना को बड़े तपाक से वाई से महाबलेश्वर तक फैला दिया। अफजलखाँ की कोशिश यह थी कि वह शिवाजी को पकड़ ले, बस लड़ाई की नौबत ही न आवे। शिवाजी चाहते थे कि वे अफजलखाँ को किसी तरह काबू में ले आवें। शिवाजी ने अपने दूत भेजे और कहला दिया कि मैं हार मानने के लिये तैयार हूँ। अफजलखाँ को विश्वास नहीं हुआ। उसने

अपने ब्राह्मण पंडित को ठीक ठीक पता लगाने के लिये भेजा। इस ब्राह्मण का नाम गोपीनाथ पंत अथवा कृष्णाजी भास्कर बतलाया जाता है। शिवाजी की ओर के लोगों ने ब्राह्मण का ब्राह्मणोचित आदर किया। शिवाजी ने उससे रात्रि के समय मिलकर उसको धर्म्म और जाति के प्रति कर्त्तव्य का उपदेश किया जिसका उस पर बड़ा प्रभाव पड़ा। अंत में यह तै हुआ कि अफजलखाँ और शिवाजी एक स्थान पर मिलकर निश्चय करें कि क्या करना चाहिए और उनमें से किसी के साथ भी सेना न हो। दोनों मिले। बस यहाँ से इतिहासवेत्ता लोगों में मत-भेद है। रानडे लिखते हैं—"मुसलमान इतिहासवेत्ता, जिनके आधार पर ग्रैंट ने इतिहास लिखा है, शिवाजी पर दोषारोपण करते हैं कि उन्होंने धोखे से बाघनख और भवानी तलवार से पहले अफजलखाँ को मारा; परंतु महाराष्ट्र लेखक, सभासद और चिटनवीस दोनों लिखते हैं कि अफजलखाँ ने मिलते ही अपने बाएँ हाथ से शिवाजी की गर्दन पकड़ी और अपनी तरफ खींचकर उनको अपनी बाईं बाँह के तले दबा लिया। शिवाजी पर जब विदित हो गया कि अफजलखाँ की नीयत खराब है तब उन्होंने तलवार चलाई। उन दिनों ऐसे अवसरों पर इस प्रकार का धोखा देना साधारण बात थी। इसको मान लेना चाहिए कि शिवाजी और अफजलखाँ दोनों इस खतरे के लिये तैयार थे। शिवाजी के ऐसा करने के लिये प्रबल कारण थे। उनको अपने भाई की मृत्यु, तुलजा-

पुर और पंढरपुर के मंदिरों के अपवित्र किए जाने का बदला लेना था। उनको यह भी मालूम था कि वे वैरी से खुले मैदान नहीं लड़ सकते थे क्योंकि दोनों की सेना बराबर नहीं थी। गत बारह वर्षों में शिवाजी ने जो कुछ जीत प्राप्त की थी और आगे के लिये जो कुछ सोचा था उसकी सफलता इसी समय के परिणाम पर निर्भर थी। इसलिये धोखे से अपना काम निकालने के लिये अफ़जलखाँ की अपेक्षा उनको अधिक आवश्यकता थी। दोनों के चरित्र पर भी विचार करना चाहिए। एक घमंडी और ओछा था। दूसरा अत्यंत गंभीर और चौकन्ना था।"

चौथ और सरदेशमुखी पर रानडे ने एक पूरा अध्याय लिखा है। उन्होंने प्रमाण देते हुए लिखा है कि पूर्वकाल से देशमुख लोग मालगुजारी जमा करते थे और उसमें से १०) प्रति सैकड़ा रख लिया करते थे। देशमुख कुटुंब और शिवाजी के कुटुंब में विवाह शादी होने लगी। इस कारण शिवाजी की इच्छा थी कि वे भी सरदेशमुखी अर्थात् १०) प्रति सैकड़ा कर जमा करें। इस संबंध में उन्होंने शाहजहाँ और औरंगजेब से पत्र-व्यवहार किया था परंतु कुछ फल नहीं निकला। १६६७ में शिवाजी ने बीजापुर और गोलकुंडा पर चौथ और सरदेशमुखी का कर लगाया। १६६८ में बीजापुर ने ३ लाख और गोल-कुंडा ने ५ लाख दिया। १६७१ में खानदेश के मुगल सूबे से भी कर मिला। १६७४ में कोकन के पुर्तगाल राज्य के अधीन

स्थानों से भी कर मिला। जहाँ से कर मिलता था वहाँ के लोगों की मुगल-आक्रमणों से रक्षा का भार शिवाजी अपने ऊपर लेते थे। उस समय मुगलों ने जितने आक्रमण किए सबमें शिवाजी के सैनिकों ने दक्षिण प्रांत के राज्यों की सहायता की। बेदनोर के राजा और सुनदा के सरदार ने अपनी रक्षा के लिये अपने आप कर देना स्वीकार किया। रानडे लिखते हैं—"१६८० में शिवाजी की मृत्यु हुई। इससे पहले उन्होंने दक्षिणी भारत के हिंदू और मुसलमान राजाओं की मरजी से, जिनकी वे रक्षा करते थे, कर लेकर उनमें मेल करने की प्रथा स्थापित कर दी थी। मुगलों के सूबों में कहीं कहीं वे जबरदस्ती कर जमा करते थे। सरदेशमुखी, मालगुजारी जमा करने के बदले में, पहले ही से मिला करती थी। चौथ का कर पीछे जोड़ा गया। यह उस सेना के रखने के लिये खर्च होता था जो विदेशियों के आक्रमणों से बचाने के लिये रखी जाती थी। जिनके रक्षार्थ यह कर लगाया जाता था वे प्रसन्नतापूर्वक इसको देते थे। यह प्रणाली शिवाजी ही की सोची हुई थी और इसी का अवलंबन एक सौ पचीस (१२५) वर्ष पीछे मारक्विस वेलेस्ली ने अँगरेजी राज्य की वृद्धि के लिये सफलतापूर्वक किया।"

रानडे के इस इतिहास से मालूम होता है कि महाराष्ट्र लुटेरे और डाकू नहीं थे। उनकी उत्पत्ति और उनका अभ्युदय जातीयता और देशभक्ति के उद्वेग का परिणाम था।

छपते ही इस पुस्तक पर अनेक कटाक्ष हुए। जो लेखक शिवाजी को हत्यारा और लुटेरा समझते थे वे बिगड़ खड़े हुए और कहने लगे कि रानडे ने अपने नायक के गुणों और कार्यों को आकाश तक चढ़ा दिया है परंतु वे लोग यह भूल जाते थे कि रानडे ने शिवाजी और पेशवाओं के समकालीन लेखकों की साक्षी पर अपनी सम्मति निश्चित की थी। रानडे उन लोगों में से नहीं थे जो अपने देश की बुराइयों की भी प्रशंसा करें। हर्ष का विषय है कि अँगरेजी में जो भारतीय इतिहास संबंधी ग्रंथ अब छपते हैं उनमें शिवाजी के प्रति श्रद्धा-उत्तेजक शब्दों का प्रयोग होता है।

INTRODUCTION TO THE PESHWA'S DIARIES

पेशवाओं की दिनचर्या की भूमिका

जिस प्रकार शिवाजी के चरित्र और शासन का वृत्तांत 'महाराष्ट्र राज्य के अभ्युदय' में लिखा गया है उसी प्रकार इस छोटी सी पुस्तक में पेशवाओं के राज्य के समय का वर्णन है, परंतु यह दिग्दर्शनमात्र है। आरंभ में इस बात पर विचार किया गया है कि महाराष्ट्र राज्य का सूर्य्य अस्त क्यों हुआ। रानडे लिखते हैं—"हमारे साधारण बखर में और ग्रैंट डफ जैसे अँगरेज इतिहासवेत्ता के ग्रंथों में केवल राजनैतिक घटनाओं का वर्णन होता है। उनसे लोगों की अवस्था, वे किस प्रकार रहते थे, किस प्रकार ऐश्वर्य प्राप्त करते थे, उनका

मनोरंजन किस प्रकार का होता था, उनके धार्मिक विश्वास, उनकी रहन सहन, उनके आचार व्यवहार और उनके मिथ्या विश्वास (भूत प्रेतादि से डरना), क्या थे। इन ग्रंथों से यह स्पष्ट पता नहीं लगता है कि भारतवासियों के राज्यकाल में राज्य का कार्य किस प्रकार होता था, भूमि पर कर किस प्रकार लगाया जाता था और जमा होता था, किलों की रक्षा का क्या प्रबंध था, आबकारी, नमक, चुंगी इत्यादि का रुपया किस प्रकार खर्च होता था, फौज में सिपाही किस प्रकार भरती होते थे और उनको वेतन किस प्रकार दिया जाता था, लड़ाई के जहाजों का क्या प्रबंध था, सरकार ऋण किस प्रकार लेती थी, फौजदारी और दीवानी के मुकदमों में किस प्रकार न्याय होता था, पुलिस, डाक, टकसाल, जेलखानों, धर्मार्थ संस्थाओं, पेंशन, सड़कों और राजकीय भवनों के निर्माण, रोगियों की चिकित्सा, शहर की सफाई इत्यादि का क्या प्रबंध था, व्यापार और विद्या की किस प्रकार वृद्धि की जाती थी। बहुत से लोगों को यह असाधारण आश्चर्य की बात मालूम होगी कि केवल सौ वर्ष पहले भारतीय शासक लोगों का ध्यान पूरी तौर पर उन सब विषयों पर था जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है और अपने शासन में वे भली भाँति कृतकार्य भी हुए थे। न केवल कृतकार्य ही हुए थे बल्कि शायद बहुत से लोग कह बैठेंगे कि ये लोग अपने नियमित कर्त्तव्यों से आगे बढ़ जाते थे, क्योंकि उन्होंने समाज-

संशोधन के बहुत से ऐसे सुधार जारी कर दिए जिनके संबंध में आजकल भी यह कहनेवाले मिल जायँगे कि ये सुधार शासक के कर्त्तव्यों के बाहर थे। इन सब विषयों के ज्ञान के लिये ये सरकारी दिनचर्य्याएँ, जो पेशवाओं के दफ्तर में उच्च कर्मचारी लिखा करते थे, अत्यंत बहुमूल्य हैं। यद्यपि उनमें भी दोष हैं परंतु उनसे भी अच्छी सामग्री के अभाव की अवस्था में उनके द्वारा उस समय के लोगों की एक सौ वर्ष के उपरांत तक क्या संस्थाएँ थीं, उनकी आशाएँ और आशंकाएँ, उनके दोष और गुण क्या थे इन बातों पर प्रकाश पड़ता है। उनका महत्त्व शिक्षा और सुधार के लिये, लड़ाई और विजय, राजवंशों के परिवर्तन और विप्लव की कहानियों की अपेक्षा जो आजकल के साधारण इतिहास-ग्रंथों में इतना स्थान लेती हैं, बहुत बढ़कर है।"

शासन-पद्धति

महाराष्ट्र अभ्युदय के इतिहास में बतलाया जा चुका है कि शिवाजी राजमंडल के द्वारा शासन करते थे जिसके सबसे बड़े अधिकारी पेशवा थे। सब मंत्रियों के काम बँटे हुए थे और इन पदों पर नियुक्ति योग्यतानुसार होती थी। कोई पद वंश-परंपरा-युक्त नहीं था और एक पद से दूसरे पद पर बदली भी होती थी। बालाजी विश्वनाथ के पहले प्राय: १०० वर्ष तक पेशवा के पद पर चार भिन्न भिन्न वंशों के लोग काम कर चुके थे। प्रतिनिधि, सचिव और मंत्री के पद पर तीन भिन्न भिन्न वंशों के लोगों ने काम किया था। सेनापति के पद पर

७ या ८ भिन्न भिन्न वंशों के सरदार रह चुके थे। यही हाल छोटे पदाधिकारियों का था। प्रत्येक विभाग में अलग अलग अफसर थे; उनमें से कोई जिलाधीश का काम करता, कोई किलों का प्रबंध करता, कोई सेना की देख भाल करता, इन सबकी नियुक्ति राजमंडल द्वारा होती थी। अफसरों को अपने अधीन कर्मचारियों को निकालने का अधिकार नहीं था। अफसर भी भिन्न भिन्न जातियों के चुने जाते थे। राजमंडल की सभाएँ होती थीं, जिनमें प्रत्येक राजकीय विषय पर विचार होता था। एक सभा में बाजीराव ने प्रस्ताव किया था कि दिल्ली पर चढ़ाई करनी चाहिए, प्रतिनिधि ने वहीं बाजीराव का विरोध किया था।

आगे चलकर पेशवा, प्रतिनिधि, सेनापति इत्यादि के पद वंश-परंपरागत हो गए। राजा कठपुतली की नाईं रहने लगा। राजमंडल का बल टूट गया। पेशवा ही अपने को नरपति समझने लगे। उनकी देखादेखी बड़ोदा, इंदौर, ग्वालियर, नागपुर और अन्य महाराष्ट्र रियासतों में भी यही होने लगा। ये रियासतें अपने को स्वाधीन समझने लगीं। राष्ट्रीयता के उच्च भाव संकीर्णता में परिवर्त्तित हो गए। शिवाजी का यह सिद्धांत था कि राज्य प्रतिनिधियों द्वारा चले और सब लोग धर्म और जाति पर न्योछावर होकर काम करें। उनके समय में ब्राह्मण, मरहठा इत्यादि सब जातियों के लोग युद्ध में लड़ते थे। शिवाजी के कई योद्धा सरदार ब्राह्मण थे।

ब्राह्मणों का प्रभुत्व

उनके पीछे केवल ब्राह्मणों का ही स्वत्व राजमंडल पर अधिक बढ़ने लगा। उन्होंने युद्ध में जाना छोड़ दिया। १७६० में जितने प्रसिद्ध पुरुषों के नाम मिलते हैं, सब ब्राह्मण थे। आगे चलकर ब्राह्मणों में भी फूट पड़ी; कभी गौड़ सारस्वतों का मान होने लगा, कभी देशस्थ ब्राह्मण एक ओर हो जाते और कोकणस्थ दूसरी ओर। रानडे लिखते हैं—"दलों के अंदर दल बन गए जिनमें आपस में बिलकुल सहानुभूति नहीं थी कि जो देश की समस्त जातियों को प्रेम के बंधन में, जिस प्रकार शिवाजी, राजाराम और शाहू रखने में कृतकार्य हुए थे, रख सकें। शताब्दी का प्रथम अर्द्ध भाग इस प्रकार की जातीय ईर्ष्या से बिलकुल मुक्त था। दूसरे अर्द्ध भाग में यह द्वेष इतना बढ़ गया था कि मेल असंभव था और प्रत्येक नेता देश की भलाई के विरुद्ध अपना ही स्वार्थ देखता था। ब्राह्मण इस समय अपने लिये विशेष स्वत्व और अधिकार चाहने लगे जो शिवाजी की राज्य-प्रणाली में नहीं था। कोकणस्थ ब्राह्मण कारकुन लोगों को जो 'दफ्तर' (Secretariate) में भर गए थे और जिनको वेतन भी अच्छा मिलता था अपना अनाज और असबाब बिना चुंगी अथवा नाव का किराया दिए हुए लाने का अधिकार मिल गया। कल्याण और मालव प्रांत में ब्राह्मण जमींदारों को अन्य जाति के जमींदारों की अपेक्षा आधा या उससे भी कम 'कर' देना पड़ता था। फौजदारी

कचहरियों में किसी अपराध का भी कठोर दंड उनको नहीं दिया जाता था (यह प्रथा पहले से चली आई थी)। उनमें से जो किले में कैद किए जाते थे उनके साथ औरों की अपेक्षा रियायत होती थी। इस प्रकार के लाभ के अतिरिक्त उनको धर्मार्थ कोप से जो कुछ दान होता था, मिलता था। द्वितीय बाजीराव के समय के जो लेख मिलते हैं उनमें यह प्रथा किस दुर्गति तक पहुँची थी इसकी पर्याप्त साक्षी मिलती है। दक्षिणा द्वारा दान की प्रणाली से, जो विद्योन्नति के अर्थ चलाई गई थी, ब्राह्मण मात्र को दान मिलने लगा और पूना कंगालों की बहुसंख्या का केंद्र बन गया। त्योहार पर सरकार की ओर से कई दिनों तक ३० और ४० हजार ब्राह्मणों को उत्तम से उत्तम भोजन मिलने लगा। शताब्दी के अंत के इतिहास में जाति विशेष के सम्मानादि की बातें अधिक मिलती हैं। बहुत कम इतिहासज्ञ इस पर विचार करते हैं कि इनके कारण कितनी अधोगति हुई। अंतिम बाजीराव के समय सब जातियों की रक्षा करने और सबके साथ बराबर न्याय करने का आदर्श जाता रहा था। रामदास के महाराष्ट्र धर्म का उच्च आदर्श इतना संकीर्ण हो गया था कि लोग समझने लगे कि राजा का धर्म केवल "गौ ब्राह्मणों की रक्षा करना है"।

सेना

शिवाजी के समय में किलों के फतह करने के लिये पैदल सिपाही और मैदान की लड़ाई के लिये घुड़सवार रखे जाते

थे। ये घुड़सवार औरंगजेब की सेना से लड़ते थे और सारे भारतवर्ष में इनका डर फैल गया था। ये घोड़े सहित या अकेले भरती होते थे और केवल ८ महीने काम करते थे। बरसात आते ही ये अपने घर जाकर खेती करते थे। जब ये भरती होने के लिये आते थे तब पहले ही से इनको कुछ रुपया दिया जाता था जिसको 'नालबंदी' कहते थे, जिसमें लड़ाई का पूरा सामान वे अपने साथ लावें। बड़े बड़े प्रतिष्ठित घर के लोग सेना में सम्मिलित होना जातीय गौरव समझते थे। आगे चलकर महाराष्ट्र फौज में गोलंदाज रखे जाने लगे। अरब, शेख, पुर्तगाली जो कोई मिलता भरती किया जाता। फिरंगियों की फौज की सज-धज, उनकी गोलंदाजी, उनका नियमबद्ध काम करना देखकर अफसर भी फिरंगी रखे जाने लगे। कभी कोई भूला भटका अँगरेज या फ्रेंच मिल जाता तो उसको सेना का अफसर बना देते और अभिमान में चूर हो जाते, यहाँ तक कि किलों का प्रबंध भी ऐसे ही लोगों के हाथ में दे दिया गया। फौज के साथ लुटेरों का दल भी रहने लगा जिनको पूरा अधिकार था कि जहाँ चाहें लूट मार करें। इधर इनके कारण देश में बड़ा असंतोष फैलने लगा, उधर जब कभी फिरंगी अफसर छोड़कर चल देते, फौज का सब काम बंद हो जाता। वीरता और संगठन-शक्ति का लोप होने लगा।

सामुद्रिक सेना

शिवाजी ने सामुद्रिक सेना भी तैयार की थी। उसका

सेनापति एक मुसलमान था। पेशवाओं ने इसमें अधिक उन्नति की थी। उनके समय में इस सेना का मुख्य स्थान विजयदुर्ग था। थोड़ी फौज बेसीन स्थान में भी रहती थी। इस सेना द्वारा युद्ध का कोई बड़ा काम नहीं हुआ, केवल व्यापार की रक्षा की जाती थी और कच्छ और गुजरात की ओर से जो सामुद्रिक डाकू आ जाया करते थे उनका कभी कभी दमन किया जाता था। उस समय में अंग्रिया जाति बड़े जोर पर थी। उनके पास भी जहाज थे। अँगरेजों और अंग्रियों में कई बार युद्ध हुआ था। १७५६ में पेशवा बालाजी बाजीराव ने अँगरेजों का साथ दिया और अंग्रिया लोगों के जमीन और समुद्र पर नाश करने में सहायता की। रानडे लिखते हैं—"अंग्रिया लोगों का बल नाश करने में अँगरेजों की सहायता करके पेशवाओं ने आक्रमण करने और रक्षा करने के लिये जो जल-सेना तैयार की थी उसके महत्त्व को घटा दिया।"

भूत प्रेतादि में विश्वास

एक प्रकार के अपराध का उस समय के इतिहास में बहुत वर्णन आता है। उसका दंड भी बहुत था। वह भूत प्रेतादि के संबंध में था। यदि यह मालूम हो जाता कि अमुक स्त्री या मर्द अपने पड़ोसियों या अन्य लोगों के कुटुंब पर जादू-टोना करती है या भूत डाल देती है तो उनकी कड़ी सजा होती थी। अंतिम दो पेशवाओं के समय में तो कई कर्म-चारी केवल ऐसे लोगों की तलाश और सजा के लिये नियुक्त

किए गए थे। जिलाधीश और पुलिस का उस समय यह कर्त्तव्य था कि इस कष्ट से लोगों को बचावे।

दान-प्रणाली

महाराष्ट्र राजा कई लाख वार्षिक दान करते थे। ब्राह्मणों की दक्षिणा के अतिरिक्त, जिसका वर्णन पहले हो चुका है, मुसलमानों की दर्गाहों और मसजिदों के लिये राज्य से दान मिलता था। कोंकण स्थान के ईसाई भी सहायता पाते थे। दान देने में प्रजा के सुख का ध्यान किया जाता था और किसी धर्म-विशेष के लोग उससे वंचित नहीं किए जाते थे।

व्यापारवृद्धि

व्यापारवृद्धि के निमित्त विदेशी व्यापारियों का उत्साह बढ़ाया जाता था। अरब से घोड़ों के जो व्यापारी आते थे उनके कोंकण के बंदरगाहों में बसने का प्रबंध किया जाता था, फिरंगियों का असबाब बिना चुंगी के महाराष्ट्र राज्य में बिकता था। बुंदेलखंड की पन्ने की खान खोदने में पेशवा ने सहायता दी थी। पूना का रेशम का रोजगार बरहानपुर से आए हुए व्यापारियों के द्वारा बढ़ा था।

पूना नगर की वृद्धि के लिये लोगों को जमीन मुफ्त दी जाती थी। पूना पहले एक साधारण कसबा था। मुफ्त जमीन दे देकर यह इतना बसाया गया कि भारत के बड़े और प्रसिद्ध नगरों में गिना जाने लगा।

विद्यावृद्धि

जिस प्रकार व्यापारी पूना इत्यादि स्थानों में आकर बसने लगे, उसी प्रकार संस्कृत के विद्वान् बंगाल, मिथिला, काशी, करनाटक, द्रविड़ और तैलंगण आदि स्थानों से आकर पूना में बस गए। पूना संस्कृत विद्यापीठ बन गया। यह गौरव अँगरेजी राज्य में भी इसको कई वर्षों तक प्राप्त रहा। नाना फड़नवीस ६००००) वार्षिक विद्यावृद्धि के लिये देते थे। दूसरे बाजीराव बहुत सी बातों में व्यर्थ धन नष्ट करते थे परंतु इसके साथ ही विद्वानों और पंडितों, कवियों और साहित्य सेवियों को भी धनादि देकर सम्मानित करते थे। वे चार लाख वार्षिक दान करते थे। साधारण ब्राह्मणों को मैदान में बैठाकर भोजन करा दिया जाता था परंतु विद्वान् पंडित राजमहल में बुलाए जाते थे और उनको दुशाले और दक्षिणा दी जाती थी।

मिथ्याविश्वास

भूत प्रेतादि में विश्वास का उल्लेख ऊपर हो चुका है। 'दिनचर्या' के लेखों में अन्य प्रकार के अनेक विचित्र विश्वासों का बयान आया है। एक बार एक विद्यार्थी ने देवी के सामने अपनी जीभ काट डाली थी। गुजरात-निवासी एक भक्त ने मंदिर में अपना सिर काटकर चढ़ा दिया था।

कल्याण तालुके में भूकंप आया। लोगों ने समझा कि बस अब देश पर कोई राजनैतिक अरिष्ट आयगा। एक दुर्ग

कुछ टूट फूट गया। लोगों ने समझा कि कुदृष्टि (नजर लग जाने) के कारण ऐसा हुआ है। एक जागीरदार ने सरकार को लिखा कि हमारी जागीर लेकर इसके बदले में दूसरी दी जाय क्योंकि इस जागीर में भूतों का घर है। पहले त्र्यंबक की देवी के सामने भैंसे मारे जाया करते थे पर पीछे यह प्रथा रोक दी गई। एक बार अकाल पड़ा तो इस प्रथा को फिर जारी कर दिया। पंढरपुर की मूर्त्ति पर छिपकली गिर गई। इस पर कई दिनों तक मंदिर का प्रायश्चित्त कराया गया।

सुधार की ओर रुचि

पेशवाओं की बुद्धिमत्ता का उन सुधारों से परिचय मिलता है जो उन्होंने अपने समय में जारी किए। उस समय सदा मुसलमानों से झगड़ा लगा रहता था। धोखे से या जबर-दस्ती कभी कभी हिंदू मुसलमान हो जाते थे। चार उदा-हरण मिलते हैं जिनमें ऐसे लोग बिरादरी की सम्मति से और सरकार की आज्ञा से फिर हिंदू जाति में ले लिए गए थे। पूताजी बंदगर एक मरहठा था। मुगलों ने उसको कैद करके जबरदस्ती मुसलमान बना लिया। एक वर्ष मुसलमानों के साथ रहकर वह बालाजी विश्वनाथ की सेना से आ मिला। उसने बिरादरी में मिलने की इच्छा प्रकट की। राजा शाहू की आज्ञा से बिरादरी ने उसे ले लिया। रास्ते उपनाम के एक कोकणस्थ ब्राह्मण को हैदर ने अपनी सेना में नजरबंद रखा। अपनी जान बचाने के लिये उसको मुसलमानी ढँग

से रहना पड़ता था। उसको भी सरकार की आज्ञा से बिरादरी ने ले लिया। अहमदनगर जिले में एक ब्राह्मण था। वह धोखे से मुसलमान हो गया था। उसी प्रकार पैठण में (जो अब निजाम की रियासत में है) एक ब्राह्मण रोग-ग्रस्त रहता था। उसको यह विश्वास दिलाया गया कि तुम मुसलमान हो जाने पर अच्छे हो जाओगे। वह मुसलमान हो गया परंतु पीछे बहुत पछताया। इन दोनों ब्राह्मणों को पंडितों की सम्मति से और राजाज्ञा से बिरादरी ने फिर मिला लिया।

पेशवाओं के समय में मदिरा का बनाना और बेचना बिलकुल मना था। इस सिद्धांत पर वे बड़े दृढ़ थे। परंतु जब उन्होंने पुर्तगालवालों से बेसीन, चौल और अन्य स्थान जीते और वहाँ की कोली इत्यादि जातियों ने प्रार्थना की कि उनको शराब पीने की आज्ञा मिले तब केवल उन्हीं जातियों के लिये आज्ञा प्रदान की गई। इन जातियों और अन्य छोटी जातियों के अतिरिक्त कोई शराब नहीं पी सकता था। ब्राह्मणों, प्रभु जाति के लोगों और सरकारी कर्मचारियों को आज्ञा थी कि यदि इनमें से कोई भी मदिरा पान करेगा तो उसको कड़ी सजा होगी। नासिक के कई ब्राह्मणों पर, जो धर्माधिकारी थे, कुछ संदेह था कि ये मदिरा पान करते हैं। जब उनसे प्रश्न किया गया तब वे लड़ने पर तैयार हुए। वे किले में कैद कर दिए गए। खेड़ तालुका में एक धनी मरहठा रहता था। उसको एक बार चितौनी दी गई कि तुम मादक वस्तुओं

का प्रयोग छोड़ो, परंतु उसने कुछ परवाह नहीं की। इस पर उसकी आधी जमीन जब्त कर ली गई।

दूसरे बाजीराव के समय में यदि कोई लड़कीवाला रुपया लेकर लड़की का विवाह करता तो उसको दंड मिलता और साथ ही उसकी भी सजा होती जो रुपया देता और जो बीच में पड़कर विवाह कराता। कुछ उदाहरण ऐसे मिलते हैं कि विवाह तै हो गया और पेशवा सरकार ने उसको तोड़ दिया। एक बार सरकार को मालूम हुआ कि एक कोढ़ी लड़के का विवाह एक लड़की से निश्चय हुआ है। तुरंत राजाज्ञा से वह विवाह बंद करा दिया गया। सदाशिवराव भाऊ का पानी-पत की लड़ाई के बाद कहीं पता नहीं लगा। कोई नहीं जानता था कि वे कहाँ चल दिए। ऐसी अवस्था में लोग यही अनुमान करने लगे कि वे लड़ाई में मारे गए। पेशवा सरकार की आज्ञा हुई कि उनकी स्त्री विधवा न मानी जाय। २१ वर्ष तक वह जीती रही। उसकी मृत्यु के उपरांत पति और पत्नी दोनों का अंत्येष्टि संस्कार एक साथ हुआ। नारा-यणराव पेशवा के मरने पर भी उनकी स्त्री को सिर नहीं मुड़-वाना पड़ा। यह प्रसिद्ध है कि परशुराम भाऊ पटवर्धन अपनी विधवा कन्या के विवाह का प्रबंध पंडितों की सम्मति से कर रहा था। जब पेशवा को समाचार मिला उन्होंने इसका कुछ भी विरोध नहीं किया, परंतु भाऊ ने घर की स्त्रियों के विरोध के कारण स्वयं अपने प्रस्ताव को रोक

लिया। सुनारों ने एक बार आंदोलन किया कि उनके घर का पूजा-पाठ उनकी बिरादरी ही के लोग कराया करें। पूना के जोशी ब्राह्मणों ने इसका घोर विरोध किया। पेशवा सरकार ने सुनारों के पक्ष में फैसला दिया। कुम्हार लोग चाहते थे कि विवाह के समय उनके यहाँ दुलहा और दुलहिन घोड़े पर चढ़कर निकलें। इस पर लोहार और बढ़ई बिगड़ खड़े हुए। सरकार ने कुम्हारों को अपनी इच्छा पूरी करने की आज्ञा दी। दूसरे बाजीराव ने प्रभु लोगों को यज्ञोपवीत धारण करने और संस्कारों के समय वेदमंत्रों का उच्चारण करने की आज्ञा दी। कोंकण के रहनेवाले एक कलवार ने गुजरात के रहनेवाले कलवार के घर अपनी लड़की ब्याह दी। यह नई बात थी। वह बेचारा जातिच्युत कर दिया गया। उसने सरकार में फरयाद की; हुक्म हुआ कि वह बिरादरी में मिला लिया जाय। बालाजी बाजीराव का अपना विवाह भी देशस्थ कुटुंब में हुआ था जो नियम-विरुद्ध था।

रानडे लिखते हैं—"विचारणीय यह नहीं है कि ऐसी बातों में सफलता कितनी हुई। हमको देखना यह है कि उस समय के हमारे देशी शासक लोगों को इन बातों में अनुराग था और उस समय की सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के संबंध में जो आज्ञाएँ उन्होंने दी थीं उनसे कितनी उदारता प्रकट होती है।"

ESSAY ON INDIAN ECONOMICS.

रानडे के ग्रंथों में यह बड़े महत्त्व का है। यह १८९९ में छपा था। इसमें भारतीय आर्थिक अवस्था पर उनके १२ निबंधों का संग्रह है। ये निबंध भिन्न भिन्न अवसरों पर लिखे गए थे। कई औद्योगिक महासभा के अधिवेशनों में व्याख्यान रूप से पढ़े गए थे।

इस पुस्तक की विषय-सूची से ही रानडे के परिश्रम और विस्तृत ज्ञान का परिचय मिलता है। स्वतंत्र विचार की पुस्तक होने पर भी किसी किसी विश्वविद्यालय में यह एम० ए० के अर्थशास्त्र की पाठ्य पुस्तकों में रखी गई थी। इस शास्त्र पर एक भारतवासी का लिखा हुआ यह पहला ग्रंथ है। अब इस प्रकार के कई ग्रंथ छपते जाते हैं।

एक निबंध में उन्होंने लिखा है—"हमारी अवस्था शोचनीय है। हमारे देश में खनिज पदार्थों की कमी नहीं है। परमेश्वर ने हमें आर्थिक सामान इतना दिया है जो कभी कम होनेवाला नहीं, प्रकृति ने हमारे ऊपर हर प्रकार से कृपा की है फिर भी अँगरेजी राज्य में हमारी आर्थिक अवस्था ऐसी है जैसी न होनी चाहिए। दिन पर दिन अवस्था बिगड़ रही है। सारे देश पर ऐसी घोर दरिद्रता (जो बढ़ रही है) छाई हुई है जैसी कि इतने विस्तार के साथ संसार ने कभी नहीं देखी थी। अच्छी फसिल में क्लेश और दारिद्रय नहीं होता परंतु अच्छी फसिल लगातार नहीं रहती, पहले की अपेक्षा अकाल अधिक

होते हैं। देश के किसी न किसी भाग में वर्षा न होने के कारण लोग भूखों मरने लगते हैं। इसके अनेक कारण हैं—(१) समस्त देश में गरीबी का कठिन रूप में दूर तक फैलना और बढ़ते जाना, (२) छोटी जातियों में घोर कष्ट का बढ़ता जाना और (३) जनसमूह में आर्थिक कष्ट के रोकने की सामर्थ्य का अभाव।"

A Revenue Manual of the British Empire in India.

स० १८७७ में इस नाम की पुस्तक रानडे ने प्रकाशित की थी। भारतीय अर्थ संबंधी विषयों पर साक्षी लेने के लिये विलायत की पार्लामेंट ने एक कमेटी बैठाई थी। उसके और अन्य सरकारी रिपोर्टों के आधार पर यह पुस्तक लिखी गई थी। इसमें सरकारी आय किन किन विभागों से होती है इस पर बड़ी योग्यता से निबंध लिखा गया है।

इन ग्रंथों के अतिरिक्त रानडे ने अनेक छोटी छोटी पुस्तकें प्रकाशित की थीं।

इन पुस्तकों में रानडे के विचार-रत्न मिलते हैं। उनमें अद्वितीय भाषा-लावण्य और ओज है। सब लेख समयानुकूल हैं और उनमें देश-हितकारी चर्चा है।

ॐ शांति: